मार्क्सवादी अर्थशास्त्र

लेखक

भूपेन्द्रनाथ सान्याल

(मेम्बर आल इंडिया कांग्रेस कमेटी, भूतपूर्व काकोरी षडयन्त्र केस के बन्दी, उपसभापति प्रान्तीय ट्रेड युनियन कांग्रेस, सभापति प्रान्तीय नौजवान भारत सभा, तथा मार्क्स का दर्शन आदि ग्रन्थों के रचयिता)

प्रकाशक
के० के० मित्रा
इण्डियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग

मूल्य दो रुपया

मुद्रक
पं० भृगुराज भार्गव
भार्गव प्रिंटिंग-वर्क्स, लखनऊ

भूमिका

मार्क्सवादी अर्थशास्त्र साधारण अर्थशास्त्र से भिन्न है। साधारण अर्थशास्त्र जिसको अंग्रेजी में पोलिटिकल इकानमी कहते हैं पूँजीवाद के युग का अर्थशास्त्र है। इन दोनों का मुख्य विभेद यह है कि पूँजीवादी अपने ग्रंथों में वर्णित नियमों को चिरंतन नियम मानते हैं और मार्क्स का यह कहना है कि ये नियम एक विशेष युग के, पूँजीवादी युग के नियम हैं। समाज के विकास के साथ उसका आर्थिक ढाँचा बदलता रहता है। जैसे समाज गतिशील है उसी तरह आर्थिक ढाँचा भी गतिशील है।

मूल ढाँचा कायम रहने पर भी उसमें थोड़ा बहुत परिवर्तन होता ही रहता है। स्वयं पूँजीवाद में ही कितने ही परिवर्तन होते आये हैं। पहले उत्पादन प्रक्रिया में प्रतियोगिता थी फिर एकाधिकार की सृष्टि हुई एकाधिकार की ही आखिरी सीढ़ी है साम्राज्यवाद, और पूँजीवाद की अवनति के युग में आया फ़ासिज़्म। इसीलिए मार्क्स के अर्थशास्त्र का विषय ही है "पूँजी की गति के नियम।" अप्रतिरोध प्रतियोगिता से राष्ट्रों को संरक्षण नीति का क्यों अवलम्बन करना पड़ा, राष्ट्र को व्यक्तिगत उद्योग धन्धों में क्यों हस्तक्षेप करना पड़ा, इत्यादि प्रश्नों का सही सही उत्तर इसी नियम से मिलता है।

है दूसरा स्थितिशील। पहला क्रान्तिकारी है, दूसरा संरक्षणशील।

मार्क्स ने समाजवादी समाज के आर्थिक ढाँचा का कोई वर्णन नहीं किया है। लेकिन पूँजीवाद के अन्तर्विरोधों के निराकरण से ही समाजवादी व्यवस्था की स्थापना हो सकती है। इस लिए उस व्यवस्था के कुछ आर्थिक सिद्धान्तों का विवेचन हो जाता है। इससे अधिक और कुछ न कहना मार्क्स के लिए स्वाभाविक ही था क्योंकि समाजवादी समाज उस समय भविष्य के गर्भ में ही था। लेकिन आज रूस की योजनाओं से इस नवीन आर्थिक ढाँचे की कुछ झलक आ जाती है। इस नवीन ढाँचे का मूल मन्त्र है, उत्पादन—समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए न कि व्यक्तियों के मुनाफ़ा के लिए। इससे उत्पादन क्षेत्र में पूँजीवादी व्यवस्था की भाँति कोई अराजकता नहीं रहती और उत्पादन शक्ति की वृद्धि में कोई बाधा नहीं रहती।

—लेखक

इसके अलावा इन दोनों का मूल विभेद है इनके अलग अलग दृष्टिकोणों में। पूँजीवादी अर्थशास्त्रियों का दृष्टिकोण है उपभोग करनेवालों का और मार्क्सवादी दृष्टिकोण है श्रमिकों का। किसी वस्तु के अर्घ्य की परिभाषा को ले लीजिये। पूँजीवादी विद्वानों के अनुसार अर्घ्य (Value) निर्धारित होता है सीमान्त उपयोगिता (Marginal theory of utility) द्वारा। एक उदाहरण ले लीजिये। किसी मनुष्य को सेव खाने की तीव्र इच्छा है। लेकिन दो चार सेव खाने के बाद उसकी इच्छा घट जाती है। फिर एक आखिरी सेव वह जो खाता है उससे उसकी इच्छा की पूर्ण तृप्ति हो जाती है, जिसके बाद सेव खाने की उसकी इच्छा रहती ही नहीं। इस सीमान्त रेखा के सेव से ही सेव का अर्घ्य निर्धारित होता है। लेकिन मार्क्स की परिभाषा सम्पूर्ण भिन्न है। 'अर्घ्य' संचित श्रम-समय (Congealed labour time) का ही दूसरा नाम है। अर्थात् उस वस्तु के निर्माण में जितना श्रम लगा अर्घ्य उसी का पुन जोड़ है। पूँजीवादी अर्थशास्त्र के मूल लेखक ऐडम स्मिथ और रिकार्डो की परिभाषा मार्क्स की परिभाषा के अनुरूप ही है, लेकिन इस परिभाषा का मार्क्स ने जो परिणाम निकाला वह पूँजीवादियों को मान्य नहीं था। इसी कारण पूँजीवादियों के स्वार्थ की रक्षा के लिए आस्ट्रियन अर्थशास्त्री बोयम बावर्क को सीमान्त उपयोगिता के सिद्धान्त की खोज निकालना पड़ा।

मार्क्स के आर्थिक सिद्धान्तों का आधार है दुनिया का आर्थिक इतिहास। इसी आधार पर मार्क्स ने यह प्रमाणित किया कि पूँजीवादी व्यवस्था का नाश होकर समाजवादी समाज की स्थापना अवश्यम्भावी है। लेकिन पूँजीवादी पण्डितों ने यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि पूँजीवादी व्यवस्था एक प्राकृतिक व्यवस्था है जिसमें मनुष्य कोई परिवर्तन नहीं कर सकता। एक शक्तिशाली

है दूसरा स्थितिशील। पहला क्रांतिकारी है, दूसरा संरक्षणशील।

मार्क्स ने समाजवादी समाज व आर्थिक ढाँचा का कोई वर्णन नहीं किया है। लेकिन पूँजीवाद के अन्तर्विरोधों के निराकरण से ही समाजवादी व्यवस्था की स्थापना हो सकती है। इस लिए उस व्यवस्था के कुछ आर्थिक सिद्धान्तों का विवेचन हो जाता है। इससे अधिक और कुछ न कहना मार्क्स के लिए स्वाभाविक ही था क्योंकि समाजवादी समाज उस समय भविष्य के गर्भ में ही था। लेकिन आज रूस की योजनाओं से इस नवीन आर्थिक ढाँचे की कुछ झलक आ जाती है। इस नवीन ढाँचे का मूल मन्त्र है, उत्पादन—समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए न कि व्यक्तियों के मुनाफ़ा के लिए। इससे उत्पादन-क्षेत्र में पूँजीवादी व्यवस्था की भाँति कोई अराजकता नहीं रहती और उत्पादन शक्ति की वृद्धि में कोई बाधा नहीं रहती।

—लेखक

विषय-सूची

अर्थशास्त्र क्या है ?

सामाजिक जीवन निर्वाह के सिलसिले में मनुष्यों में जो सम्बन्ध स्थापित हो जाता है उन सम्बन्धों के अध्ययन के लिये रचित समाज विज्ञान का नाम अर्थशास्त्र है। मनुष्यों में सम्बन्ध बहुत प्रकार के होते हैं लेकिन अर्थशास्त्र केवल उन्हीं सम्बन्धों का विचार करता है जो सामाजिक श्रम से उत्पन्न पैदावार के उत्पादन और बटवारा के कारण कायम होता है। इन सम्बन्धों को उत्पादन सम्बन्ध भी कहते हैं। इन सम्बन्धों में भी अर्थशास्त्र विशेष रूप से पूँजीवाद के अन्तर्गत ही सामाजिक सम्बन्धों का विचार करता है। ऐसे समाज में कोई व्यवस्थित उत्पादन प्रणाली नहीं होती है। यहाँ उत्पादन प्रक्रिया नेत्रविहीन है। इस पूँजीवादी समाज के अव्यवस्थित सम्बन्धों के भी कुछ नियम अवश्य ही हैं। परन्तु ये नियम जैसे अन्धों की क्रियायें हैं जिनको नियन्त्रित करने के लिए आर्थिक क्रिया में हिस्सा लेनेवाले अपनी स्वतन्त्र इच्छा शक्ति का प्रयोग नहीं करते।

पहला अध्याय

श्रम और वस्तुओं का उत्पादन

अर्घ्य का मूल श्रम

मार्क्स का अर्थशास्त्र इस बात को लेकर आरम्भ होता है कि बिना श्रम के मनुष्य-जीवन असम्भव है। चाहे मनुष्य-समाज का संगठन कैसा ही हो। प्रकृति ने ही श्रम को मनुष्य-जीवन का एक आवश्यक शर्त बनाया है। इसी श्रम से वस्तुओं का निर्माण होता है और वस्तुओं का समूह ही पूँजीवादी समाज का सम्पद् है। पूँजीवादी अर्थशास्त्र की सारी बुनियाद है वस्तु।

वस्तु वह चीज़ है जो अपने गुणों के कारण मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। न केवल वस्तु ज़रूरतों को ही पूरा करता है बल्कि वह विनिमय के द्वारा एक व्यक्ति के हाथों से दूसरे व्यक्ति के हाथों में पहुँचती है जिसके व्यवहार के लिये

वह काम में लाई जा सकती है। इसलिए वस्तु वह चीज़ है जो उपयोगी हो और जिसका विनिमय हो सके।

किसी काल में सामाजिक ढाँचा को समझने के लिये यह जानना चाहिए कि समाज में श्रम का संगठन किस प्रकार की है यानी उनकी उत्पादन क्रिया किस प्रकार की है। समाज का प्रथमावस्था में हर व्यक्ति उत्पादक होता है। उत्पादन का केन्द्र भी हर व्यक्ति स्वय ही होता है। उत्पन्न माल को वह बाजार में पहुँचाता है और जिस माल की उसे खुद जरूरत है उसके मालिक से अपने माल का विनिमय करता है। इस उत्पादन और विनिमय का कोई व्यवस्थित रूप नहीं होता।

अब प्रश्न उठता है कि मनुष्य की श्रम शक्ति का प्रयोग किन वस्तुओं के निर्माण में किया जायगा, यह कैसे निर्धारित होता है। दूसरे शब्दों में किसी आर्थिक ढाँचे का निराकरण कौन सी चीज करती है? हमने यह समझ लिया कि समाज की प्रथमावस्था में उत्पादक अपने श्रम के फल को बाज़ार में विनिमय के लिये उपस्थित करता है। यदि बहुत से लोग उसी वस्तु के पैदावार में लग जायँ तो बाज़ार में पैदावार की मात्रा बढ़ जाती है। उस वस्तु की माग उतनी ही रहने के कारण उसका मूल्य अपनी साधारण सतह से नीचे गिर जायगा। स्वभावतः उसके पैदावार की प्रक्रिया से कुछ लोग अलग हो जायँगे और किसी दूसरे वस्तु को पैदा करने में लग जायँगे जिससे अधिक मूल्य की प्राप्ति हो। पहले वस्तु की मात्रा घट जाने के कारण उसका मूल्य फिर अपनी सतह पर आ जायगा। इस प्रकार मूल्य ही सामाजिक श्रम का बटवारा करता है और सामाजिक श्रम शक्ति को विभिन्न वस्तुओं के पैदावार में नियोजित करता है।

वस्तुओं के विनिमय के सिलसिले में उत्पादनकारियों के बीच एक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है परन्तु समाज की प्रथमा

वस्था में ऐसा प्रतीत होने लगता है जैसा कि यह सम्बन्ध उत्पादक व्यक्तियों के बीच न होकर उत्पन्न वस्तुओं के बीच है।

सारे समाज की एक श्रम शक्ति होती है। यह समाज के अन्तर्गत सारे व्यक्तियों की मानसिक और शारीरिक शक्तियों का जोड़ है। मार्क्स ने इस समूची शक्ति को संचित अमूर्त श्रम का नाम दिया है। इस अमूर्त श्रम के प्रयोग से ही कोई विशिष्ट वस्तु बनती है, जैसे बुनना, कातना, जूते बनाना इत्यादि। तब इस श्रम को विशिष्ट श्रम कहेंगे।

वस्तु शब्द की परिभाषा में ही दो अर्थ निहित हैं—एक यह कि प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से यह मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है, दूसरा यह कि इसका निर्माण बाज़ार में विनिमय के लिए किया जाता है। यानी यह उत्पादक के निजी खर्च के लिए नहीं पैदा किया जाता है बल्कि किसी और के लिये जिसको इस चीज़ की ज़रूरत है। हर काम की चीज़ गुण की दृष्टि से कुछ गुणों का जमाव है। इस कारण यह विभिन्न प्रकार के कामों में लाया जा सकता है। दूसरे शब्दों में वस्तु का एक व्यवहार मूल्य है और चूंकि व्यवहार मूल्य उसकी प्रयोजनीयता पर निर्भर है और इसको उस वस्तु से अलाहिदा नहीं किया जा सकता है। वस्तु व्यवहार मूल्य ही बन जाता है। श्रम के परिमाण से व्यवहार-मूल्य का कोई सम्बन्ध नहीं है। उदाहरण के लिए किसी वस्त्र के बनाने में चाहे एक घंटा लगा हो चाहे दस उसकी प्रयोजनीयता उतनी ही रहती है—यानी शरीर ढाकने की जरूरत को यह रफ़ा करता है।

जिस परिमाण व अनुपात में एक व्यवहार-मूल्य का दूसरे व्यवहार मूल्य से विनिमय होता है उसको विनिमय मूल्य कहते हैं। यह अनुपात परिवर्तनशील है। समय और स्थान पर यह निर्भर है। २० गज़ कपड़ा बनाने में आज किसी देश में जितना श्रम

लगता है कल दूसरे किसी देश में उत्पादन शक्ति में वृद्धि के कारण उससे कम समय लग सकता है। इसलिए यह अनुपात समय और स्थान के साथ बदलता रहता है।

अब मान लीजिए कि एक मन गेहूँ का विनिमय 'क' परिमाण रेशम और 'ख' परिमाण सोने से किया जा सकता है। इसका यह अर्थ हुआ कि 'क' परिमाण रेशम और 'ख' परिमाण सोने का एक दूसरे से विनिमय हो सकता है क्योंकि ये दोनों ही एक ही परिमाण गेहूँ के समान हैं। इस उदाहरण से एक बात स्पष्ट है। वह यह कि जिन दो वस्तुओं में आपस में विनिमय होता है उन दोनों वस्तुओं में कोई ऐसी बात होगी जो दोनों में वर्तमान हो परन्तु दोनों से भिन्न हो। यह बात उन वस्तुओं का कोई गुण नहीं हो सकता क्योंकि उन वस्तुओं के प्राकृतिक गुण बिलकुल अलग-अलग हैं। जो बात दोनों में है वह यह कि दोनों श्रम के उपज हैं। इस दृष्टि-कोण से मेज़, मकान या मोज़ा इनका एक ही रूप है—अमूर्त श्रम का रूप। उपरोक्त वस्तुओं में केवल इस अमूर्त श्रम के विभिन्न परिमाण हैं।

विनिमय अर्घ्य ही किसी वस्तु का असली अर्घ्य है। इस अर्घ्य का कारण है अमूर्त मनुष्य श्रम जो उस वस्तु में रूप ग्रहण करता है। इस अर्घ्य का परिमाण मापने के लिए हमें यह जानने की आवश्यकता है कि उस वस्तु में श्रम का परिमाण कितना है। इस श्रम का परिमाण हम समय से ही कर सकते हैं। श्रम-समय से ही किसी वस्तु के अर्घ्य का परिमाण किया जाता है। अर्थात् किसी वस्तु के निर्माण में जितने घंटों या दिनों का श्रम लगाया गया है वही उस वस्तु का अर्घ्य है।

ऊपर कही गई बातों से यह खयाल किया जा सकता है कि उत्पादक जितना अनाड़ी होगा या आलसी होगा उतना ही उसके द्वारा उत्पन्न वस्तु का अर्घ्य अधिक होगा। परन्तु यह बात

नहीं है। किसी भी समय किसी विशेष समाज में एक औसत आदमी जितना श्रम-समय किसी वस्तु के निर्माण में लगायेगा वही उस वस्तु का अर्घ्य है। दूसरे शब्दों में यह श्रम-समय सामाजिक अवस्था और आवश्यकता के अनुसार होना चाहिए। जैसे मशीन के आविष्कार से किसी वस्तु के निर्माण का समय यदि घट जाय तो उसी समय से उस वस्तु के अर्घ्य का परिमाण किया जाना चाहिए। इससे यह स्पष्ट है कि जब तक इस श्रम-समय का परिमाण घटता बढ़ता नहीं है तब तक किसी वस्तु के अर्घ्य में परिवर्तन नहीं होता। श्रम की उत्पादन शक्ति की ह्रास वृद्धि के साथ अर्घ्य की ह्रास वृद्धि होती रहती है। उत्पादन शक्ति बढ़ने से अर्घ्य घटता है और उत्पादन शक्ति घटने से अर्घ्य बढ़ता है। गणित की भाषा में किसी वस्तु का अर्घ्य उसमें निहित श्रम के परिमाण के अनुपात में है और इस श्रम की उत्पादन शक्ति के विपरीत अनुपात में है।

यदि कोई विशेष उत्पादक अपने व्यवहार के लिये किसी नई मशीन का आविष्कार करता है तो उससे सामाजिक आवश्यक श्रम में कोई अन्तर नहीं पड़ता। लेकिन चूंकि एक वस्तु के उत्पादन में उसका अपना श्रम सामाजिक आवश्यक श्रम से कम व्यय होता है और उस वस्तु का बाजार भाव उसके श्रम पर नहीं, बल्कि सामाजिक श्रम-समय पर निर्भर है, उस विशिष्ट उत्पादक को अधिक मुनाफा मिलता है और इसी से नई मशीन आदि के आविष्कार में प्रोत्साहन मिलता है। नई मशीनों आदि के आविष्कार से ही सामाजिक श्रम की उत्पादन शक्ति बढ़ती है और वस्तुओं का अर्घ्य घटने लगता है।

अलुमिनियम का खर्च आज आठ हजार गुना घट गया है और इसके मूल्य में कमी का मांग और पूर्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है बल्कि इसकी मांग इसलिये बढ़ गई है कि यह सस्ता

हो गया है और सस्ता होनेका कारण यह है कि उसका अर्घ्य घट गया है या दूसरे शब्दों में इसके उत्पादन के लिये कम आवश्यक श्रम की ज़रूरत है।

एक और प्रश्न का यहाँ समाधान करना है। क्या एक घन्टा का मामूली शारीरिक श्रम एक इन्जिनीयर या लेखक के एक घन्टा श्रम के बराबर है? श्रम के एकक के लिये हम एक घन्टा का सादा श्रम ही लेते हैं जिसके लिये किसी विशेष प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता नहीं है। जिस श्रम में हुनर की आवश्यकता है वह अधिक क़ीमती है। उस हुनर के सीखने में जितना अधिक समय लगे वह उतनी ही क़ीमती है। हुनरमन्दों के श्रम समय को साधारण श्रम-समय में आँका जा सकता है। लेकिन आज के समाज में इसकी सठीक गणना सम्भव नहीं।

यदि कोई श्रम-समय के इस नियम को किसी कलाकार की कृति के ऊपर लागू करना चाहे और उसका अर्घ्य निकालना चाहे तो यह सम्भव नहीं। इस प्रकार की कृतियाँ अनोखी वस्तु हैं और साधारण वस्तुओं से इनकी तुलना नहीं की जा सकती। इसका एक कारण यह भी है कि इन कृतियों का पुनरुत्पादन नहीं हो सकता। ऐसे वस्तुओं का मूल्य जिनका पुनरुत्पादन नहीं हो सकता अर्घ्य के नियम से आँका नहीं जा सकता।

ऐसा हो सकता है कि किसी चीज़ का व्यवहार अर्घ्य हो परन्तु कोई अर्घ्य न हो। उदाहरण के लिये खुली हवा, नई ज़मीन, जंगल, उद्गमस्थान पर जल इत्यादि। एक और बात यहाँ समझ लेने की है। उन्हीं दो वस्तुओं का विनिमय हो सकता है जिनका व्यवहार अर्घ्य एक दूसरे से भिन्न है। जैसे एक दुशाला से दूसरे दुशाला का विनिमय नहीं हो सकता लेकिन गेहूँ या सोने से हो सकता है। इस प्रकार विनिमय के मूल में है दो या अधिक व्यवहार अर्घ्यों की भिन्नता।

अब यह समझने की ज़रूरत है कि किस वस्तु का मूल्य क्या है ? यह मूल्य कैसे निर्धारित किया जाता है। दो वस्तुओं के मूल्यों में अन्तर इसलिये नहीं होता कि एक अधिक आवश्यक है और दूसरा कम और न इसलिये कि एक अधिक टिकाऊ है और दूसरा कम। एक उदाहरण ले लीजिये रोटी और हीरे का। किसी एक मनुष्य के लिये किसी वस्तु की ज़रूरत की मात्रा कितनी है। इसका कोई सठीक अन्दाज़ा नहीं लगाया जा सकता है। यदि यह कहा जाय कि किसी वस्तु की कितनी माँग है और कितनी उसकी पूर्ति है इसी के ऊपर उस वस्तु का मूल्य निर्भर है तो यह भी सही नहीं होगा। यदि ऐसा होता तो जिन दो वस्तुओं की माँग और पूर्ति समान परिमाण में होता उन दोनों वस्तुओं का बाजार भाव भी एक ही होता। उदाहरण के लिये ले लीजिये चीनी और सिलाई की मशीन। माँग और पूर्ति का नियम केवल एक सीमित रूप से बाज़ार दर के उतार चढ़ाव का अर्थ बतला सकता है। माँग के बढ़ने के कारण अथवा पूर्ति की कमी के कारण या और किसी कारण से मूल्य अत्यधिक बढ़ जाने पर माँग घट जाती है। इसके विपरीत उदाहरण से भी यह सिद्ध होता है। यदि बाज़ार में किसी चीज के अत्यधिक तादाद में होने के कारण उसका भाव गिर जाता है तो उस चीज़ के पैदावार में कोई मुनाफा नहीं मिल सकता और उसका पैदावार मन्द हो जाता है। पैदावार घटने के कारण मूल्य फिर बढ़ने लगता है। इस प्रकार मूल्य ही माँग और पूर्ति पर असर डालता है न कि इसका उल्टा।

तो क्या पैदावार के लागत दाम से मूल्य निर्धारित होता है ? इसके माने तो केवल इतना ही हुआ कि जिन विभि चीज़ों से कोई वस्तु बना हो उन विभिन्न चीज़ों के दाम को जोड़कर उस वस्तु का मूल्य बता दिया जाय। इससे प्रश्न का समाधान नहीं

हुआ। एक अज्ञात परिमाण की परिभाषा हम दूसरे अज्ञात परिमाणों से करना चाहते हैं। आखिर तक हमें सब वस्तुओं के लागत दाम के लिये हमें वहीं पहुंचना पड़ता है कि वस्तु के निर्माण में श्रम का व्यय कितना हुआ। क्योंकि [illegible] अपनी खोज के सिलसिले में उस जगह पहुंचते हैं जहां श्रम के व्यय के सिवा केवल वही चीजें रह जाती हैं जो प्रकृतिदत्त हैं यानी वे प्राकृतिक चीजें जिन पर कोई श्रम का व्यय नहीं किया गया हो।

श्रम की प्रक्रिया में मनुष्यों को एक दूसरे पर निर्भर होना पड़ता है और इसलिये उनमें उत्पादन का एक सम्बन्ध बन जाता है। इस प्रकार व्यक्ति का श्रम सारे समाज के श्रम का एक हिस्सा बन जाता है। उत्पादन का सम्बन्ध इस बात को अवश्यम्भावी बना देता है कि समाज में श्रम का विभाजन इस प्रकार हो कि समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। बाजार में किस अनुपात में वस्तुओं का विनिमय होता है, यही निर्धारित करता है कि किसी विनिमयात्मक आर्थिक ढांचे में श्रम का विभाजन किस प्रकार हो। वस्तुओं का विनिमय मनुष्यों के बीच उत्पादन सम्बन्ध को नियमित करने का एक विशेष उपाय है और यह इस प्रकार से नियमित होता रहता है कि अर्घ्य के आस पास मूल्य का उतार चढ़ाव होता है।

यह सम्बन्ध ऐसा नहीं है कि हमेशा एक तरह कायम रहे लेकिन अर्घ्य ही इसका निर्णायक है।

अव्यवस्थित समाज संगठन के कारण ही अर्घ्य को विनिमयात्मक आर्थिक ढांचे के निर्णायक के रूप में काम करना पड़ता है। विनिमय ढांचे के कारण जिन अवस्थाओं की उत्पत्ति होती है उनसे मनुष्यों के बीच एक विशिष्ट सम्बन्ध कायम हो जाता है और अर्घ्य की जड़ इसी सम्बन्ध में है। जब हम अपने

सम्बन्धों को इच्छानुसार नियन्त्रित कर सकेंगे तो अर्घ्य का कोई काम ही नहीं रह जायगा।

इस दृष्टिकोण से अर्घ्य और व्यवहार अर्घ्य में बहुत अन्तर है। मनुष्यों के सामाजिक सम्बन्ध में कैसा भी परिवर्तन हो वस्तुओं व व्यवहार-अर्घ्य में कोई परिवर्तन नहीं होता।

दूसरा अध्याय

अर्घ्य का रूप और मुद्रा

विनिमयात्मक आर्थिक ढाँचे के अन्दर किसी वस्तु के अर्घ्य को सीधे सीधे श्रम के घंटों की तादाद में आंका नहीं जा सकता। वे वस्तु जिनका बाजार में विनिमय होता है वे ही मनुष्यों के बीच उत्पादन सम्बन्ध का प्रतीक बन जाते हैं। इसके बिना श्रम का फल केवल व्यवहार अर्घ्य हो सकता है इसका कोई विनिमय-अर्घ्य नहीं होगा। कोई भी वस्तु अपना अर्घ्य नहीं आंक सकता जब तक वह किसी दूसरे वस्तु के सम्पर्क में नहीं आये। एक वस्तु का अर्घ्य दूसरे वस्तु के विशिष्ट तादाद में ही रूप ग्रहण करता है। ऐसा इसलिये है कि (१) आवश्यक सामाजिक श्रम समय का परिमाण कई चीजों पर निर्भर है जैसे किसी उत्पन्न वस्तु की कुल तादाद, जितने व्यक्ति उस वस्तु के उत्पादन में लगे हुए हैं उन कुल व्यक्तियों के श्रम

रूप में चाहे जो भी वस्तु हो उन सबके अर्घ्य का रूप एक विशिष्ट वस्तु ही होता है।

जैसे एक कोट दो सेर आलू एक बोतल मिट्टी का तेल एक दर्जन अन्डे २० बक्स दियासलाई	=२० गज़ कपड़ा

यह पहले के समीकरणों का केवल उलटा नहीं है। इस प्रथा से एक ऐसे वस्तु का आविष्कार हो जाता है जो सार्वभौमिक रूप से सब वस्तुओं के अर्घ्य का समरूप बन जाता है। यह सार्वभौमिक समरूप का स्वयं एक अर्घ्य है लेकिन यह सब वस्तुओं के अर्घ्यों का मानदण्डस्वरूप है।

आज के समाज में सार्वभौमिक समरूप का काम करता है मुद्रा। वर्तमान काल में विनिमय का माध्यम है मुद्रा। मुद्रा में सोना चाँदी आदि का ही व्यवहार होता है। इसके कुछ कारण ये हैं कि समय बीतने पर भी ये घिसते कम हैं, आसानी से छोटे छोटे हिस्सों में इनका विभाग किया जा सकता है, थोड़े परिमाण में ही इनका अर्घ्य अधिक है, इनकी पहचान आसानी से की जा सकती है।

मुद्रा के निज का अर्घ्य है और जहाँ अर्घ्य का प्रचलन है वहीं मुद्रा का भी प्रचलन है। वर्तमान पूँजीवादी समाज में अर्घ्य ही श्रम-संगठन को नियन्त्रित करता है और इसलिये इस समाज में मुद्रा की भी आवश्यकता है। सुव्यवस्थित आर्थिक ढाँचे में न अर्घ्य की आवश्यकता है न मुद्रा की। मुद्रा कोई रहस्यमय वस्तु नहीं है। परन्तु यह रहस्यमय इसलिये प्रतीत होता है कि आज के समाज-संगठन में मनुष्य का प्रभुत्व वस्तुओं पर न होकर वस्तुओं का प्रभुत्व मनुष्य पर है।

जब किसी वस्तु के अर्घ्य को मुद्रा (रुपये पैसों) में आँकते हैं तो उसको उस वस्तु का मूल्य कहते हैं। किसी वस्तु का मूल्य इस बात पर निर्भर है कि कितना श्रम उस वस्तु में पुंजीकृत है और कितना श्रम मुद्रा में सम्मिलित है। उत्पादक शक्ति की वृद्धि के साथ वस्तुओं के मूल्य में ह्रास होता है और यदि सोना चाँदी आदि का पैदावार सहज हो जाय तो मूल्य में वृद्धि हो जायगी क्योंकि सोना आदि में सामाजिक श्रम आदि का परिमाण घट जायगा।

जो परिमाण सोना या किसी वस्तु के अर्घ्य के समान है उस परिमाण में तो कोई अन्तर नहीं होता है परन्तु भिन्न देशों में इस परिमाण को मूल्य के विभिन्न रूप दिये जाते हैं क्योंकि मूल्य का एकक भिन्न देशों में भिन्न है। पहले पहल मूल्य का एकक सोना चाँदी आदि के एक विशिष्ट वजन को ही माना जाता था जैसे अंग्रेजी पाउन्ड (आध सेर के करीब) से जाहिर है।

सोना चाँदी के भाव में कुछ भी परिवर्तन हो मूल्य के मापदण्ड में कोई अन्तर नहीं पड़ता। उदाहरण के लिये चाँदी का भाव कुछ भी हो रुपये के चवन्नी सदा चार ही होंगे। अलग अलग देशों के अलग-अलग सिक्के होने पर भी उनका सम्बन्ध स्थापित करना मुश्किल नहीं है क्योंकि सोने का अर्घ्य सब देशों में ही समान है।

आज के दिन वस्तुओं के अर्घ्य को श्रम के घंटों का रूप न देकर मुद्रा या सिक्का का रूप दिया जाता है। सिक्के के साथ वस्तु का वास्तविक विनिमय न होने पर भी उसका अर्घ्य सिक्के में आंका जाता है। अर्घ्य का परिमाण और मूल्य के मानदण्ड के अलावा सिक्का वस्तुओं के विनिमय के माध्यम का भी काम करता है।

मुद्रा के बगैर बहुत से वस्तुओं का एक दूसरे के सम्पर्क में आना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य ही हो जाता। वस्तुओं

के विनिमय में सिक्के के माध्यम को एक चक्र का रूप दिया जा सकता है —वस्तु—मुद्रा—वस्तु । सिक्के का प्रचलन जितनी तेजी के साथ होगा उतने ही कम माध्यम की आवश्यकता होगी। यदि दिन भर में एक सिक्का पाँच सौदों में भाग लेता है और कुल वस्तुओं का अर्घ्य १००० रुपया हो तो बाजार में केवल २०० रुपयों की जरूरत होगी।

मूल्य की बुनियादी बात है अर्घ्य का नियम। अर्घ्य को रुपये पैसे में आँकना ही मूल्य है। हमने अभी तक ऐसा ही विचार प्रगट किया है कि मूल्य और अर्घ्य एक ही है। परन्तु वास्तव में यह सम्भव तभी है जब वस्तुओं की मांग और पूर्ति बराबर हो। साधारणतः यह व्यतिक्रम ही है। मूल्य और अर्घ्य के अन्तर से ही मांग और पूर्ति में बराबरी की चेष्टा होती रहती है और किसी वस्तु का उत्पादन घटाया जाता है और किसी का बढ़ाया जाता है । फिर भी अर्घ्य को ही केन्द्र बनाकर मूल्य उसके इर्द गिर्द घूमा करता है।

मुद्रा के एवजी भी होते हैं, जैसे सिक्के जो अपने असली अर्घ्य से ज्यादह के द्योतक हैं या कागज के नोट जिनका अर्घ्य नहीं के बराबर है। तो इनके लिये अर्घ्य का नियम कैसे लागू होता है। इस प्रश्न का उत्तर यही है कि इनका अर्थ तभी समझा जा सकता है जब हम मान लें कि ये एवजी मात्र हैं और जिनके ये एवजी हैं उन पर अर्घ्य का नियम लागू होता है। दूसरी बात यह है कि ये एवजी केवल वस्तुओं के विनिमय के माध्यम के काम ही आ सकते हैं।

तीसरा अध्याय

अतिरिक्त अर्घ्य

साधारण आर्थिक ढाँचे में वस्तुओं के छोटे छोटे उत्पादक होते हैं जो उत्पादन के साधन के स्वयं मालिक हैं और जो अपने श्रम के उपज की बिक्री से ही गुज़र बसर करते हैं। ऐसी उत्पादन प्रथा में अपनी आवश्यकतायें पूरी करने के लिये ही वस्तुओं का विनिमय होता है।

आज के दिन विनिमय का यह उद्देश्य नहीं है। उत्पादन चक्र अब वस्तु–मुद्रा–वस्तु न होकर मुद्रा–वस्तु–मुद्रा का रूप ले लेता है। पूँजीपति की विनिमय क्रिया आरम्भ होती है, रुपये से माल खरीद कर उसको बेचना और रुपया बनाना। लेकिन पूँजीपति के लिये विनिमय का तभी कोई अर्थ होता है जब कि जितना रुपया वह खर्च करता है उससे ज्यादह उसकी आमदनी होती है। इसलिये वास्तविक पूँजीवादी उत्पादन चक्र है मुद्रा–

वस्तु–मुद्रा + अधिक मुद्रा अथवा मु—व–मु + मु यह मु यहां से आया ?

अर्घ के नियम के अनुसार वस्तुओं का मूल्य इस अर्घ के आस पास ही रहता है पर मूल्य अर्घ से बढ़ जाता है तो उस वस्तु के ज्यादह पैदावार में लोग लग जाते हैं। पैदावार बढ़ जाने से मूल्य फिर घट जाता है और उत्पादनकारी दूसरे वस्तु के पैदावार में लग जाते हैं। मूल्य के घटने बढ़ने के साथ पूँजी कभी इस वस्तु के उत्पादन में लगाई जाती है कभी उस वस्तु के, जब तक कि मूल्य और अर्घ बराबर नहीं हो जाता। मूल्य के इस बढ़ने घटने के अवसर पर कोई पूँजीपति अपने प्रतिद्वन्द्वी के मत्थे मुनाफा कमा सकता है। लेकिन यह कुछ स्थायी है और मूल्य के उतार चढ़ाव के अन्त के साथ इसका भी अन्त हो जाता है। इसलिये मांग और पूर्ति की विषमता इस प्रश्न का समाधान नहीं कर सकती कि सारे पूँजीपतियों के मुनाफे का क्या कारण है। यह केवल इतना ही बतला सकती है कि व्यक्तिगत रूप से किसी पूँजीपति के मुनाफे में कमी या बेशी क्यों होती है।

मार्क्स के शब्दों में प्रचलित अर्घों का जोड़ उनके विभाजन के कारण बढ़ नहीं सकता। जैसे कीमती रासायनिक पदार्थों की तादाद में कोई भी अन्तर नहीं हो सकता चाहे थोड़े से लोग क्वीन (रानी) आने को फार्दिंग (पैसा) को सिक्के के दाम क्यों न बेचते हों।

सम्भव है, मुनाफ़े का कारण यह हो कि बेचनेवालों का यह विशिष्टता है कि वे वस्तुओं को अपने अर्घ से अधिक मूल्य में बेचते हों। लेकिन नहीं। हर पूँजीपति बेचनेवाला भी है खरीदनेवाला भी है। व्यापारी के लिये भी यही बात है। इसलिये विनिमय के कारण कुल अर्घों के जोड़ में कोई अन्तर

नहीं हो सकता, क्योंकि बेचनेवाले की हैसियत से उसको जो लाभ होगा खरीदनेवाले की हैसियत से उसको उतना ही नुकसान होगा। वस्तुओं की आमदरफ़्त से पूँजीपति के मुनाफे का भेद नहीं खुलता।

मार्क्स ने प्रश्न का यों रक्खा है—"हमारे दोस्तों की रुपये की थैली का वस्तुओं को अपने अर्घ्य पर खरीदना होगा और अपने अर्घ्य ही पर उनको बेचना होगा, फिर भी कारोबार के आरम्भ में उसने जितने अर्घ्य का लागत की थी कारोबार के अन्त में उससे अधिक उसको मिलना है।"

इस प्रश्न का समाधान तभी हो सकता है जब बाजार में एक ऐसा वस्तु हो जिसमें अर्घ्य पैदा करने का गुण हो। पूँजीवादी बाजार में जितने भी वस्तु हैं उनमें एक ही वस्तु है जिसमें यह गुण हो और वह वस्तु है श्रम शक्ति। इसलिये अर्घ्य के मूल में यही वस्तु है।

हरएक समाज निरपेक्ष के लिये श्रम शक्ति एक वस्तु नहीं है। इसके लिये दो शर्तें जरूरी हैं—

(१) श्रमिक को व्यक्तिगत आजादी होनी चाहिए—यानी वह जैसे चाहे श्रम शक्ति का उपयोग करे। यह आजादी गुलामों को प्राप्त नहीं।

(२) श्रमिक के पास निजी उत्पादन का साधन या जिन्दगी बसर करने का ज़रिया न होना चाहिए ताकि उसको मजबूरन अपनी श्रम शक्ति को बेचना पड़े।

अर्घ्य के नियम की बुनियाद पर श्रम शक्ति खरीदने पर पूँजीपति को उसका पूरा अर्घ्य देना चाहिए। श्रम शक्ति का अर्घ्य का परिमाण कैसे लगाया जाता है। श्रम शक्ति फैक्टरी में पैदा नहीं की जाती है। जीवन की प्राकृतिक प्रक्रिया में ही इसका जन्म और विकास है। श्रम शक्ति पूँजीपति के किस काम की है?

इसकी उपयोगिता यही है कि यह श्रम शक्ति को एक निर्दिष्ट समय के लिए काम में लगा सकता है। यहाँ श्रम की परिभाषा भी करना चाहिए। श्रम मनुष्य की इच्छा जनित और प्रयासात्मक क्रिया है जिसके द्वारा वह प्राकृतिक चीज़ों को मनुष्य व्यवहार के उपयोगी बनाता है।

बाहरी प्रकृति पर काम करते हुए श्रमिक एक निर्दिष्ट परिमाण शारीरिक, मानसिक और स्नायविक शक्ति का व्यय करता है। अपनी श्रम शक्ति को क़ायम रखने के लिये इस व्यय किए गए शक्ति की पुन प्राप्ति होनी चाहिए। इसका अर्थ यह है कि जीवन धारण की सामग्रियों का एक निर्दिष्ट परिमाण उसको चाहिए। उसको मकान कपड़े आहार सामग्री आदि चाहिए। श्रम की धारा अटूट रहे इससे श्रमिक की बढ़ोत्तरी भी होनी चाहिए। जीवन धारण के लिए आहार सामग्री के अलावा कुछ सांस्कृतिक ज़रूरतें भी पूरी करनी पड़ती हैं। ये ज़रूरतें भिन्न देशों में और भिन्न कालों में भिन्न हैं। उन देशों में जहाँ पूँजीवाद ने काफ़ी उन्नति की है जैसे ब्रिटेन और अमेरिका और पिछड़े हुए देशों में जैसे भारत आदि व उपनिवेशों में इन ज़रूरतों के परिमाण और पर्याय में बड़ा अन्तर है।

यह श्रम शक्ति, जिसमें हुनर का माद्दा अधिक है, अधिक क़ीमती है। इस अधिक क़ीमत की वजह यही है कि उसकी शिक्षा के लिए समाज ने श्रम समय लगाया है। यह भी सही है कि ऐसे हुनरमन्द श्रमिक के जीवन और उन्नति के लिये साधारण श्रमिक से ज्यादह सहूलियतों की ज़रूरत है।

जीवन धारण की सामग्री, उसके व्यय किए हुए श्रम की पुन प्राप्ति के लिए सामग्री, उसकी सांस्कृतिक और उसका वंश हर एक वस्तु का एक मूल्य है जिसको मापन का वही ज़रिया है जो हर वस्तु के लिये है यानी इनके उत्पादन के लिये सामाजिक आव

श्यक श्रम-समय। जीवन धारण की इन सब सामग्रियों का सम्मिलित अर्घ्य ही श्रम शक्ति का अर्घ्य है।

ऐसा प्रतीत हो रहा होगा कि पूँजीपति बड़ा परस्वार्थी जीव है क्योंकि न सिर्फ वह मज़दूर ही का हितचिन्तक है बल्कि उसके परिवार का भी। लेकिन यह भूल है। इसके विपरीत वह हर सम्भव और असम्भव तरीके से मज़दूरों के रहन सहन को नीचे गिराना चाहता है। लेकिन इसके बावजूद भी पूँजीपति को बाजार भाव के अनुसार मज़दूरी देनी पड़ती है। और वस्तुओं की तरह मज़दूरी का मूल्य भी अपने अर्घ्य के आसपास रहता है। माग और पूर्ति के नियम के अनुसार मज़दूरी घटती बढ़ती रहती है।

जब बाजार में पूँजीपति और मज़दूर दोनों मिलते हैं तो दोनों दो बराबर वस्तुओं के मालिक की हैसियत से मिलते हैं—मज़दूर बहैसियत श्रमशक्ति के मालिक के और पूँजीपति रुपये के मालिक के। श्रम शक्ति को खरीदकर पूँजीपति इच्छानुसार इसका प्रयोग कर सकता है और इसके व्यवहार अर्घ्य से लाभ उठाता है। श्रम शक्ति का व्यवहार अर्घ्य है श्रम, जो अर्घ्य की सृष्टि करता है। श्रम-शक्ति के व्यवहार अर्घ्य के मालिक के नाते पूँजीपति श्रमिक को मिहनत करने के लिये बाध्य करता है।

लेकिन श्रम शक्ति की यही महान् विशिष्टता है कि जितना अर्घ्य इसका अपना है उससे अधिक अर्घ्य यह सृष्टि करता है। यदि यह मान लिया जाय कि उन सब वस्तुओं को बनाने में जिनसे मज़दूर जीवन धारण, वंशरक्षा और मज़दूरी करता है ५ घंटा समय लगता है तो पूँजीपति मज़दूर से काम लेता है १० घंटे। इन आखिरी ५ घंटों में मज़दूर जो कुछ पैदा करता है वह अपने अर्घ्य से अधिक पैदा करता है। इसी को अतिरिक्त अर्घ्य कहते हैं।

पूंजीवादी उत्पादन प्रथा के पहले भी शोषण जारी था, लेकिन उन प्रथाओं में श्रमिक पर मालिक का पूर्ण अधिकार था और श्रम शक्ति खरीदने बेचने की सामग्री न थी, इसलिए उस समय के अतिरिक्त पैदावार को अतिरिक्त अर्घ्य का नाम नहीं दिया जा सकता। यह अतिरिक्त अर्घ्य पूँजीवादी प्रथा में ही सम्भव है।

जब श्रम शक्ति का संयोग उत्पादन के साधनों से होता है जैसे मशीनें, मकानात, कच्चे माल इत्यादि तो उत्पादन क्रिया सम्भव होता है और अतिरिक्त अर्घ्य की सृष्टि होती है। ये तमाम चीज़ें जिनका अर्घ्य है और जिनके सम्पर्क में ही अतिरिक्त अर्घ्य पैदा का जा सकती है पूँजी कहलाता है। श्रम-शक्ति भी जिसको पूंजीपति खरीदता है पूंजी में शामिल है।

चीज़ें अपने प्राकृतिक गुणों से ही कारण पूँजी नहीं बन जातीं बल्कि कुछ विशेष सामाजिक सम्बन्धों के कारण जैसे पूँजीपति द्वारा मज़दूरों का शोषण।

काउट्स्की ने लिखा है "कुछ लोग औज़ारों को ही पूँजी कहते हैं जिसके माने यह हुए कि जब कोई बन्दर बदाम आदि फोड़ता है तो वह पूँजीपति बन जाता है। इसी प्रकार जिस लकड़ी से फाड़ जंगली फल तोड़ता है वह भी पूँजी बन जाती है। कुछ औरों ने पूंजी की परिभाषा की है कि यह पुंजीभूत श्रम है। इस परिभाषा के अनुसार चींटियाँ भी रॉथसचाइल्ड और क्रुप्स के समकक्ष हो जाती हैं। कुछ अर्थनीतिज्ञों ने उन सब चीज़ों को पूँजी में शामिल किया है जो श्रम करने में सहायक हों और श्रम को उत्पादक बनाती हों। जैसे राष्ट्र मनुष्य की बुद्धि और उसकी आत्मा। ये लड़कों की कहानियाँ पढ़ने में सुन्दर हैं लेकिन इनसे सामाजिक आकार, नियम और समाज की अन्तर्निहित शक्तियों का ज्ञान नहीं प्राप्त होता।"

उत्पादन के साधन और पुंजीकृत श्रम आदि तभी पूँजी बनते हैं जब ये अतिरिक्त अर्घ्य की प्राप्ति के साधन बन जाते हैं।

पूँजी में जो विभिन्न चीजें शामिल हैं उनका महत्व समान नहीं है मशीन भी पूँजी का एक हिस्सा है। किसी वस्तु के उत्पादन में मशीन को रगड़ जिस के कारण अपना एक अंश, चाहे वह कितना ही कम हो खोना पड़ता है। इस अंश का अर्घ्य उस वस्तु के अर्घ्य में रूपान्तरित हो जाता है। परन्तु पूँजी का वह हिस्सा जिसमें कच्चा माल आदि शामिल हैं वे पूरे के पूरे उत्पादनक्रिया में काम आ जाते हैं और उनका पूरा अर्घ्य नये उत्पन्न वस्तु में शामिल हो जाता है। यह कैसे मालूम किया जाय कि मशीन का कितना हिस्सा किसी उत्पादित वस्तु में शामिल हुआ ? मान लीजिये कि उस मशीन में १०,००० दिन का श्रम शामिल है। यह भी मान लीजिये कि उत्पन्न वस्तु की तादाद ५०० है। अब यदि मशीन १० साल चले तो इस अरसे में कुल उत्पन्न वस्तुओं की तादाद होगी ५०००। प्रत्येक वस्तु में जो मशीन का हिस्सा शामिल है वह हुआ $\frac{१००००}{५००\times१०}$=२ दिन का श्रम।

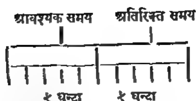
यहाँ देखने योग्य बात यह है कि उत्पादन के औजार और कच्चा माल आदि का जो हिस्सा खर्च होता है उतना ही उत्पन्न वस्तु में शामिल रहता है। समान अर्घ्य से समान अर्घ्य की सृष्टि होती है। फिर अतिरिक्त अर्घ्य कहाँ से आया जिसको पूँजीपति उस वस्तु का बेचकर प्राप्त करता है। यह अतिरिक्त अर्घ्य श्रम की ही सृष्टि है। मशीन और कच्चा माल आदि को अंशतः वस्तु में परिवर्तित करना यह भी श्रम ही का काम है। इस क्रिया में जो एक बात विशेष रूप से हो जाती है वह यह कि यह श्रम न केवल अपना अंश भी इस उत्पन्न वस्तु को प्रदान करता है बल्कि कुछ अधिक भी प्रदान करता है।

यही अधिक अश अतिरिक्त अर्घ्य है। मशीन और कच्चा माल का जो अश वस्तु में परिवर्तित हो जाता है उसमें कोई गुणात्मक परिवर्तन नहीं होता। परन्तु उस वस्तु में श्रम के कारण श्रम के अपने अर्घ्य से अधिक परिमाण अर्घ्य उस वस्तु में सम्मिलित हो जाता है। इस कारण मार्क्स ने मशीन और कच्चा माल आदि को स्थिर पूँजी कहा है और श्रम को अस्थिर पूँजी कहा है।

मज़दूर के शोषण का पता लगता है अतिरिक्त अर्घ्य और अस्थिर पूँजी के अनुपात से। जब यह अनुपात फीसदी में आंका जाता है तो इसको अतिरिक्त अर्घ्य अथवा शोषण का दर कहते हैं। एक उदाहरण ले लीजिये। मान लीजिये स्थिर पूँजी है ६००) अस्थिर पूँजी है २००) और अतिरिक्त अर्घ्य है १००) तो शोषण का दर हुआ $\frac{१००}{२००}$=५० फीसदी। यानी हर घंटा जो मज़दूर काम करता है उसमें आधा घंटा वह मालिक के लिए अतिरिक्त अर्घ्य पैदा करता है।

अगर यह दर १०० फीसदी है तो वह १ घंटा परिश्रम करता है अपने श्रम के अर्घ्य की प्राप्ति के लिये और १ घंटा श्रम करता है पूँजीपति का अतिरिक्त अर्घ्य दिलाने में। श्रम के उस हिस्से को जिससे मज़दूर को अपने श्रम के अर्घ्य की प्राप्ति होती है हम आवश्यक श्रमसमय कहते हैं और जिस हिस्से से अतिरिक्त अर्घ्य पैदा होता है उसको हम अतिरिक्त श्रम-समय अथवा केवल अतिरिक्त-समय कहते हैं।

पूँजीवादी उत्पादन प्रथा में पूँजीपति सदा सर्वदा अतिरिक्त अर्घ्य बढ़ाने का ही स्वप्न देखता है। यह दो प्रकार से बढ़ाया जा सकता है। इसको समझने के लिये अगले पृष्ठ का रेखांक देखिये—



इस रेखांक के अनुसार शोषण का दर दो प्रकार से बढ़ सकता है। या तो आवश्यक श्रम समय घटा दिया जाय या अतिरिक्त समय बढ़ा दिया जाय। अतिरिक्त समय बढ़ाना आसान है और आरम्भ में पूँजीपति यही करता है।

लेकिन यह अतिरिक्त समय एक सीमा से अधिक नहीं बढ़ाया जा सकता। यह नीति गर्हित तो होगा ही, प्राकृतिक कारणों से भी यह असम्भव है। दिन २४ घन्टे से अधिक नहीं हो सकता और श्रमिक को यदि दूसरे दिन काम करना है तो कुछ समय उसको विश्राम के लिये भी चाहिये। फिर ऐतिहासिक क्रमविकास और उन्नति के साथ एक सांस्कृतिक धारा बन जाती है जिसकी यह मांग होती है कि श्रम समय एक निर्दिष्ट सीमा को पार न करे। श्रम-समय को बढ़ा कर जब अतिरिक्त अर्घ्य की सृष्टि होती है तो उसको निरपेक्ष अतिरिक्त अर्घ्य कहते हैं। श्रम-समय समान रखकर उसी समय के अन्दर अधिक मिहनत कराने से भी निरपेक्ष अतिरिक्त अर्घ्य की वृद्धि होती है। अधिक देखरेख और उत्पादन के बेहतर सगठन से यह नतीजा निकल सकता है।

कठिन श्रम के साथ पैदावार की वृद्धि होती है और श्रम शक्ति के अर्घ्य की भी वृद्धि होती है क्योंकि श्रमिक की शारीरिक कमियाँ बढ़ जाती हैं और उसकी क्षति पूर्ति के लिये अधिक व्यय करना पड़ता है। फिर भी एक सीमा के अन्दर श्रमिक की क्षति पूर्ण करते हुए भी उसको कसने से पूँजीपति को लाभ हो सकता है। परन्तु मज़दूर श्रेणी के घोर विरोध के कारण काम का घंटा

बहुत अधिक नहीं बढ़ाया जा सकता है। बाध्य होकर पूँजीपति को ऐसा रास्ता ढूँढना पड़ता है कि आवश्यक श्रम समय घटे। इस प्रकार से अतिरिक्त अर्घ्य की जो वृद्धि होती है उसको आपेक्षिक अतिरिक्त अर्घ्य कहते हैं।

हमें यह याद रखना होगा कि मज़दूर को मजदूरी श्रम के अर्घ्य के अनुसार मिलता है। आपेक्षिक अतिरिक्त अर्घ्य की प्राप्ति हो सकती है आवश्यक श्रम-समय को घटाने से, यानी श्रम शक्ति के अर्घ्य को घटाकर। यह घटाया तब जा सकता है जब मज़दूर के जीवन धारण की सामग्रियों का अर्घ्य घट जाय। इनके अर्घ्य के घटने का अर्थ यह है कि इनको पैदा करने के लिये पहले से कम श्रम समय लगता है। यह तभी सम्भव है जब श्रम की उत्पादन शक्ति बढ़ जाय।

मज़दूर की उत्पादन शक्ति बढ़ाने के विभिन्न उपाय हैं। जिन अवस्थाओं में मज़दूर वस्तु उत्पादन करता है उन अवस्थाओं में सुधार, श्रम की हालात में सुधार, नई मशीनें, चार्जों के अपव्यय में कमी, श्रमिकों के लिये कुछ अधिक सुविधा, जिससे उनकी कार्य क्षमता बढ़ जाय—इत्यादि। अब यह स्पष्ट है कि श्रम शक्ति के अर्घ्य की कमी दो प्रकार से हो सकती है—श्रम की उत्पादन शक्ति बढ़ जानी चाहिए। यह चाहे मज़दूर के रोज़ के खर्च की चीज़ों के निस्बत हो चाहे उन साधनों के निस्बत हो जिनके ज़रिये ये चीज़ें पैदा की जाती हैं।

निरपेक्ष अतिरिक्त अर्घ्य के फलस्वरूप मज़दूर श्रेणी की दशा खराब हो जाती है और समाज की उत्पादक शक्तियों में कोई वृद्धि नहीं होती है। इसके विपरीत आपेक्षिक अतिरिक्त अर्घ्य ही समाज की यान्त्रिक उन्नति का मूल है। इससे यह न समझना चाहिए कि पैदावार की उन्नति के लिये ही पूँजीपति चेष्टित है—

सच तो यह है कि अतिरिक्त अर्घ्य की लालच पूँजीपति को मजबूरन् उन्नति की राह पर ले चलता है।

पूंजीवादी प्रथा में मशीनों की उन्नति के साथ मज़दूरों का शोषण बढ़ता जाता है। मज़दूरों को नई और तेज मशीनों के साथ क़दम मिलाकर चलना पड़ता है और अधिक एकाग्रचित्त होकर काम करने के लिये मजबूर होने के कारण उनकी स्वास्थ्य हानि भी होती है। इतने पर भी मशीनें मज़दूरों की जगह लेती जाती हैं और मज़दूर अधिक से अधिक संख्या में बेकार होते जाते हैं।



माँग की पूर्ति, यह निर्भर करता है कई चीज़ों पर, लेकिन विशेष तौर पर इस बात पर कि उद्योग धन्धों की साधारण हालत क्या है और राष्ट्रीय आर्थिक संगठन किस प्रकार का है।

जब उद्योग धन्धों का विस्तार होता है और नये कारख़ाने खुलते हैं तो श्रमिकों की माँग बढ़ जाती है। लेकिन उद्योगों के प्रसार के साथ मशीनों में भी उन्नति होती है और वस्तुओं की पैदावार जितना बढ़ता है मज़दूरों की संख्या उस अनुपात में नहीं बढ़ती।

यह तो तब जब पूँजीवाद अपने ढंग से कुछ तरक्की पर हो। परन्तु पूँजीवादी व्यवस्था में अराजकता का प्राधान्य होने के कारण उद्योग धन्धों में प्रसार होने के कुछ बाद ही एक संकट काल उपस्थित हो जाता है और कितने ही कारख़ाने बन्द हो जाते हैं। फलस्वरूप मज़दूरों की माँग घट जाती है और उनको कारख़ानों से छुट्टी दे दी जाती है।

बेकार मज़दूरों की तादाद मज़दूरों की मज़दूरी घटाने के काम आती है। अब पूँजीपति को इस बात की कोई फिक्र नहीं कि मज़दूर को अपना नष्ट शक्ति फिर मिले। हज़ारों मज़दूर कारख़ाने के फाटक के बाहर खड़े रहते हैं और मालिक को रोज़ नये मज़दूर मिल सकते हैं। अब मज़दूर को अपनी श्रम शक्ति के पूरे मूल्य के मिलने की सम्भावना नहीं रहती।

पूँजीवादी समाज में बेरोज़गारी के साथ निम्न-मध्यम श्रेणी और किसानों की हालत भी गिरती जाती है और इसके कारण भी मज़दूरी का दर घटता जाता है। क्योंकि इन श्रेणियों के लोग भी मज़दूरों में शामिल होते जाते हैं। नई मशीनें भी इजाद होती ही जाती हैं और मज़दूरों को बेकार करती जाती हैं। इस प्रकार न केवल संकटकाल में बल्कि पूँजीवाद की साधारण अवस्था में भी बेकारी लगी ही रहती है।

हर देश में उजड़ा हुआ किसान ही मज़दूर होता है। यही नहीं बल्कि पिछड़े हुए कृषिप्रधान देशों से मज़दूर काम की खोज में ऐसे मुल्कों में जाया करते हैं जहाँ उद्योग धन्धे बहुत हों। मज़दूरी के बाज़ार का नियन्त्रण इसी प्रकार से होता है।

मज़दूरी के बाज़ार में पूँजीपति और मज़दूर दोनों ही अपने वस्तुओं के मालिक होने के नाते सामानों के रूप में मिलते हैं। परन्तु सुविधा पूरी तौर पर पूँजीपति को ही है। पूँजीपति अपना रुपया कुछ दिन काम से न लगा सकने पर भी इन्तज़ार कर सकता है, पर मज़दूर अपनी श्रम शक्ति एक दिन भी न बेचे तो भूखों मर जाय। मज़दूर अकेला पूँजीपति का मुक़ाबला नहीं कर सकता। इसीलिये सामूहिक रूप से मज़दूर श्रेणी अपनी श्रम शक्ति के मूल्य को क़ायम रखने की कोशिश करती है। मजदूर सभाओं के द्वारा और राजनैतिक क्षेत्र में पूँजीपति और मजदूर की लड़ाई जारी रहती है।

पाँचवाँ अध्याय

मुनाफ़ा और उत्पादन का मूल्य

यदि मान लिया जाय कि स्थिर पूँजी का परिमाण 'क' है, अस्थिर पूँजी का परिमाण 'ख' है यानी श्रम शक्ति का अर्घ्य 'ख' है और अतिरिक्त अर्घ्य का परिमाण 'ग' है तो शोषण का दर या अतिरिक्त अर्घ्य का दर है $\frac{ग}{ख}$, परन्तु पूँजीपति यह जानना चाहता है कि उसने जो पूँजी लगाई है। उसके अनुपात में उसको अतिरिक्त अर्घ्य कितना मिला। वह चाहता है मुनाफा और मुनाफे का दर है $\frac{ग}{क + ख}$ यानी कुल पूँजी के मुकाबले अतिरिक्त अर्घ्य का अनुपात।

पूँजीपति के लिये यह जानना ज़रूरी है कि किस व्यवसाय में वह अपनी पूँजी लगाये वह जहाँ अपनी पूँजी लगाना चाहता है जहाँ उसको सबसे ज्यादह मुनाफ़ा मिले। वह

साधारणतया सालाना एक अच्छी रकम मुनाफा के लिये इच्छुक रहता है।

एक कपड़े का मिल और एक दियासलाई के कारखाने का उदाहरण ले लीजिये। मान लीजिये कि दोनों में मजदूरों की तादाद बराबर है और दोनों जगह शोषण समान है। मान लीजिये कि अतिरिक्त अर्घ्य दोनों जगह ३०,००० रुपये है। परन्तु कुल पूँजी कपड़ा मिल में ३ लाख रुपये हैं और दियासलाई के कारखाने में डेढ़ लाख रुपये हैं, तो मुनाफे का दर पहले में १० फी सदी $\left(\frac{३०,०००}{३००,०००}\right)$ है और दूसरे में २० फी सदी $\left(\frac{३०,०००}{१५०,०००}\right)$ है।

यदि उपर्युक्त उदाहरण में दियासलाई के कारखाने में न केवल कुल पूँजी की लागत आधी हो बल्कि अतिरिक्त अर्घ्य भी आधा हो तो मुनाफे का दर समान ही रहेगा।

स्थिर और अस्थिर पूँजी के सम्बन्ध को पूँजी का आन्तरिक संगठन कहते हैं यानी $\frac{क}{ख}$। पूँजीपति जितना मजदूरों पर खर्च करता है उसके अनुपात में जितना अधिक मशीन आदि पर खर्च करता है उतना ही पूँजी के आन्तरिक संगठन की वृद्धि होती है और मुनाफे का दर घटता जाता है। क्योंकि मुनाफे का दर है $\frac{ग}{क+ख}$, अब यदि दो कारखानों के एक में 'क' 'ख' का दुगुना हो और दूसरे में 'क' 'ख' का चार गुना हो तो अवश्य ही पहले में आन्तरिक संगठन $\left(\frac{क}{ख}\right)$ कम है और मुनाफा ज्यादह है और दूसरे में आन्तरिक संगठन ज्यादह है और मुनाफे का दर कम है। साधारण तौर पर मशीनों की उन्नति के साथ उतनी ही तादाद श्रमिकों की देखरेख में मशीनों की तादाद बढ़ा दी जाती

है और पूँजी का आन्तरिक सगठन बढ़ता जाता है। इस प्रकार यान्त्रिक उन्नति के साथ मुनाफे का दर घटता जाता है।

पूँजी और स्थिर पूँजी और अस्थिर पूँजी के अनुपात के अलावा भी कुछ बातें हैं जिनका असर मुनाफे के दर पर पड़ता है। पूँजीपति मुनाफे का यह भी हिसाब लगाता है कि उसको साल में कितना मुनाफा मिला और इसके लिये वह साल भर की आमदनी का अपनी सारी पूँजी से भाग लगाता है।

लेकिन किसी व्यवसाय की पूँजी साल भर तक एक सी नहीं रहती। उत्पादन प्रक्रिया के सिलसिले में ही इसका कुछ हिस्सा तैयार माल बन जाता है। वस्तु के अर्घ्य में मशीन का घिसा हुआ हिस्सा शामिल हो जाता है और उत्पादन प्रक्रिया में कच्चा माल और श्रम आदि का भी इस्तेमाल हो जाता है।

तैयार माल बाज़ार में बिकता है और बिक्री के रुपये से नये सिरे से कच्चा माल और श्रम शक्ति की खरीद की जाती है और मशीन के घिसे हुए हिस्से की जगह ताज़ा हिस्सा जोड़ दिया जाता है।

इस नई पूँजी से फिर वस्तु बनते हैं और ये वस्तु रुपये में रूपान्तरित होते हैं और ये रुपये फिर उत्पादक पूँजी बन जाते हैं और फिर पुराना सिलसिला जारी हो जाता है।

इस प्रथा को पूँजी का दौरा कहते हैं।

पूँजी के भिन्न हिस्सों के दौरों का समय समान नहीं है। जैसे मशीन, मकान आदि का अर्घ्य धीरे धीरे करके बहुत छोटे टुकड़ों में वापस मिलता है। बहुत अरसे के बाद पूँजीपति को कहीं पूरी मशीन का दाम वापस मिलता है जिससे वह नई मशीन खरीद कर उससे काम ले सकता है।

जहाँ तक कच्चा माल और श्रम शक्ति का ताल्लुक है एक ही दौरा में उनका पूरा अर्घ्य हस्तान्तरित हो जाता है।

जो पूँजी कच्चा माल और श्रम शक्ति में लगाई जाती है

उसको दौरा की पूँजी कहते हैं। जो पूँजी मशीन और मकानों म लगाई जाती है उसको बँधी पूँजी कहते हैं।

जितनी ज्यादह बँधी पूँजी होगी और जितना धीमा इसका दौरा होगा उतनी ज्यादह पूँजी अचल रहेगी और पूँजीपति के लिये मुनाफे का दर घटता जायगा। इसके विपरीत पूँजी का दौरा जितना तेज हो और यदि दौरे की पूँजी का हेरफर साल भर में अधिक बार हो तो सारी पूँजी पर मुनाफा बढ़ जायगा।

इस दृष्टिकोण से दो बातें बहुत महत्त्व रखती हैं। एक तो यह कि मशीनों की तरक्की के साथ मशीनों में ज्यादह दाम लगता है, बहुत बड़ी और पचीदा मशीनों का इस्तेमाल होता है और मुनाफे का दर घटता जाता है। दूसरी बात यह है कि उपभोग की सामग्रियों के कारखाने में पूँजी का दौरा तेज होता है बनिस्बत उन कारखाने के जहाँ मशीनें बनाई जाती हों।

किसी भी व्यवसाय में पूँजी के दौरे की रफ्तार मालूम हो सकता है, यदि हमको दो चीजें मालूम हों। एक तो पूँजी का परिमाण और दूसरा यह कि साल में पूँजी का हेरफर कितनी बार होता है। मशीनों की तरक्की के साथ पूँजी के दौरे की रफ्तार तेज हो सकता है यदि आमदरफ्त के ज़रियों में तरक्की हो, क्योंकि तब चीजें खरीदनेवालों के पास जल्दी पहुँच सकती हैं और पूरे माल की बिक्री जल्दी हो जाती है। और भी कुछ ऐसे कारण हो सकते हैं जिनसे पूँजी के दौरे का समय न बढ़कर कुछ घट हो। लेकिन पूरे तौर पर देखने से यह निर्विवाद सिद्ध है कि मशीनों की तरक्की के साथ पूँजी का दौरे का समय बढ़ जाता है।

इस रफ्तार का हिसाब समझने के लिये एक उदाहरण लीजिये—

मान लीजिये बंधी पूँजी है ८०,००० रु०

(दौरे का समय ८ साल)

और दौरे की पूँजी है २०,००० रु०

(दौरे का समय एक महीना)

साल भर में बंधी पूँजी का हेर फेर है = ८०,००० / ८

= १०,००० रुपये

,, दौरे की ,, = २०,०००×१२

= २४०,००० रुपये

साल भर में कुल पूँजी का हेर फेर है = २५०,००० रुपये

कारखाने में कुल पूँजी का लागत है = ८०,०००+२०,०००

= १ लाख रुपये

कुल पूँजी के हेरफेर को कुल लागत पूँजी से भाग देने से रफ्तार मालूम हो जायगा। वर्तमान उदाहरण में रफ्तार है साल भर में ढाई बार।

जो कुछ पिछले हिस्से में पूँजी के आन्तरिक संगठन और इसके दौरे के रफ्तार का मुनाफे के दर के ऊपर असर के विषय में कहा गया है उनसे इस बात को न भूलना चाहिए कि मुनाफे के दर के ऊपर सबसे ज्यादह असर है अतिरिक्त अर्घ्य का यानी शोषण के दर का।

अतिरिक्त अर्घ्य का जो हिस्सा पूँजीपति को मिलता है उसी का नाम मुनाफा है। मजदूर श्रेणी का शोषण जितना अधिक होगा, उतनी अतिरिक्त अर्घ्य की प्राप्ति जितनी अधिक होगी मुनाफे का दर भी उतना अधिक होगा यद्यपि यह सच है कि शोषण के अनुपात में ही मुनाफे के दर में वृद्धि नहीं होती।

पूँजीवादी समाज में मशीनों की उन्नति के साथ मजदूरों का शोषण बढ़ता जाता है और इससे मुनाफा के दर की वृद्धि अवश्यम्भावी है। लेकिन सब समय यह हो नहीं पाता क्योंकि

मशीनों की उन्नति के साथ पूँजी का आन्तरिक सगठन भी बढ़ जाता है और पूँजी के दौरे की धीमी गति से मुनाफ़े का दर घटता जाता है।

शोषण का दर और पूँजी का आन्तरिक सगठन और मुनाफा का दर इनके आपसी सबध पर नीचे का अंक कुछ प्रकाश डालेगा—(इसमें मुनाफे का दर है 'मु', अतिरिक्त अर्घ्य है 'अ [redacted]', अतिरिक्त अर्घ्य का दर है अ अ', स्थिर पूँजी है 'स्थि पू', अस्थिर पूँजी है 'अ पू')

$$\text{मु} = \frac{\text{अ अ}}{\text{स्थि पू} + \text{अ पू}} \quad (१)$$

$$\text{अ अ} = \frac{\text{अ अ}}{\text{अ पू}} \quad (२)$$

$$\text{जिससे अ अ} = \text{अ अ}' \times \text{अ पू}$$

अ अ का यह परिमाण (१) में प्रयोग करने से

$$\text{मु} = \frac{\text{अ}' \text{ अ}' \times \text{अ पू}}{\text{स्थि पू} + \text{अ पू}}$$

जिससे यह स्पष्ट है कि मुनाफे का दर अतिरिक्त अर्घ्य अथवा शोषण के दर के प्रत्यक्ष अनुपात में है। यह भी इससे स्पष्ट है कि मुनाफे का दर और पूँजी के आन्तरिक सगठन का क्या सम्बन्ध है।

मुनाफ़े का औसत दर और इसके घटने की प्रवृत्ति

मशीनों की तरक्की से पूँजी का आन्तरिक सगठन बढ़ता है और इसकी गति धीमी हो जाती है और इनके कारण मुनाफे के दर का घटना ज़रूरी हो जाता है। पूँजीवादी समाज में जहाँ सभी मुनाफ़ा के पीछे दौड़ते हैं पूँजी बारम्बार जगह बदलती रहती है, एक उद्योग से दूसरे उद्योग में लगाई जाती है और जहाँ मुनाफ़ा ज़्यादह मिलता

है वहां पूँजी लगती जाती है जब तक होड़ के कारण वहाँ का मुनाफा घट नहीं जाता। इधर जहाँ से मुनाफा कम है वहाँ से पूँजी हटते हटते मुनाफा फिर बढ़ जाता है।

भिन्न भिन्न उत्पादन क्षेत्रों में और भिन्न भिन्न पूँजियों से मिलाकर आन्तरिक सगठन विभिन्न हैं इस प्रकार एक औसत मुनाफा कायम हो जाता है। लेकिन मुनाफा बिलकुल बराबर नहीं हो पाता क्योंकि एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय में पूँजी उठा कर लगाना कोई सहज काम नहीं है। मशीनें इतनी बहुमूल्य होने लगी हैं कि कम मुनाफा पाने पर भी पूँजीपति उनको बेचकर रुपया नये कारोबार में लगा नहीं सकता। इस कठिनाई के कारण यह नियम रद्द तो नहीं होता है कि पूँजीवाद समाज की एक औसत मुनाफा की ओर प्रवृत्ति रहती है लेकिन इस नियम के लागू होने में कुछ विलम्ब होता है।

पिछले दिये गये अंक से हमको सारे समाज के लिये औसत मुनाफे का दर मालूम हो सकता है यदि हम यह मालूम कर लें कि सारे समाज की औसत पूँजी क्या है और इस पूँजी में स्थिर और अस्थिर भाग क्या है और औसत अतिरिक्त अर्घ्य क्या है। जैसे पहले कहा जा चुका है यह औसत मुनाफे का दर इस पर भी निर्भर करेगा कि सारे समाज के लिये पूँजी के दौरे का रफ्तार क्या है। लेकिन यह तो स्पष्ट ही है कि हरएक पूँजीपति को मुनाफा समान दर से नहीं मिलेगा। नई मशीनों के प्रयोग के कारण किसी किसी पूँजीपति को औसत से अधिक मुनाफा मिल सकता है। यह एक प्रकार का अतिरिक्त मुनाफा है। जब इन नई मशीनों का प्रयोग साधारण रूप से होने लगता है तो इस अतिरिक्त अर्घ्य का अन्त हो जाता है। यहाँ तक कि ऐसा भी होता है कि किसी वस्तु विशेष का मूल्य इतना घट जाता है कि औसत मुनाफा भी नहीं मिल पाता। तब फिर उल्टा चक्र चलता है

और पूँजी इस उत्पादन क्षेत्र से दूसरे उत्पादन क्षेत्र को ले जाई जाती है और फिर एक बार औसत मुनाफा क़ायम हो जाता है।

औसत मुनाफा से कम या ज़्यादह मुनाफे का उतार चढाव बिल्कुल अर्थ में इर्द गिर्द मूल्य के घटने बढ़ने के अनुरूप है। जिस समाज में लोग मुनाफा के पीछे अन्धे की तरह दौड़ते हैं वहाँ पूँजीपति का व्यक्तिगत मुनाफा औसत मुनाफे के काँटे पर शायद ही क्षण भर रुकता हो, कभी इससे थोड़ा अधिक हो जाता है कभी इससे थोड़ा कम।

जब नये यन्त्रों की इजाद जन साधारण की सम्पत्ति हो जाती है तो न केवल अतिरिक्त मुनाफा ही उड़ जाता है बल्कि साथ ही एक और नतीजा होता है। इसका असर सारे समाज की पूँजी के आन्तरिक संगठन पर पड़ता है और इसके फलस्वरूप मुनाफा का औसत गिर जाता है। इसमें व्यक्तिगत रूप से किसी पूँजीपति पर इसका असर भले ही न पड़े लेकिन पूँजीपति व्यक्तिविशेष के मुनाफे का नियामक और नियन्त्रक यही है।

उत्पादन के मूल्य का पूँजीवादी हिसाब

मुनाफा ही पूँजीवादी समाज का जीवन है। पूँजीपति का नारा है अधिकतम मुनाफा। अपनी इच्छा के अलावा प्रतियोगिता के कारण भी उसको ऐसा करना पड़ता है। किन उपायों से उसको मुनाफा अधिक मिल सकता है? प्रतियोगिता के संग्राम में चीजों का दाम बढ़ाकर वह मुनाफा नहीं कमा सकता, वस्तुओं का उत्पादन मूल्य घटा कर ही वह प्रतियोगिता में टिके रहकर मुनाफा बढ़ा सकता है या हासिल कर सकता है।

उत्पादन मूल्य का हिसाब लगाने के लिये हर खर्च का मालूम होना जरूरी है और प्रत्येक वस्तु के उत्पादन के लिये ठीक कितना खर्च होता है इसका पता लग जाता है।

मुख्य खर्च हैं कच्चा माल का, ईंधन का, दीगर ज़रूरत की चाज़ों का और मज़दूरी का।

कच्चा माल का खरीद उन खर्चों में एक मुख्य स्थान रखता है जिनसे उत्पादन के खर्च का हिसाब लगाया जाता है। इसलिये कच्चा माल सस्ता खरीदना ही मुनाफे का एक बहुत बड़ा अंग होता है। इसलिये उन पूँजीपतियों में जो कच्चा माल बेचते हैं और उन पूँजीपतियों में जो कच्चा माल खरीदते हैं बहुत कशमकश रहा करता है। इस तनातनी में विजय पाने के लिये कभी कभी अधिक धनी पूँजीपति अपनी फ़ैक्टरियों के लिये कच्चा माल स्वयं ही उत्पन्न करते हैं। पिछड़े हुए मुल्कों से कच्चा माल प्राप्त करने में इनको अपने राष्ट्र की भी सहायता मिल जाती है।

न केवल कच्चा माल सस्ता खरीदना बल्कि उसका सबसे लाभदायक उपाय से उपयोग करना भी मुनाफा हासिल करने का सबसे बड़ा उपाय है। चीजें बहुत सस्ती बन सकती हैं यदि उन चीज़ों की भी उपयोगिता ढूंढ निकाली जा सके जो इन चीज़ों के बनाने में साधारणतया फेंक दी जाती हैं। परन्तु यह विज्ञान की उन्नति पर ही निर्भर है।

कच्चा माल के बाद खर्चे का नम्बर आता है ईंधन का। लकड़ी और कोयले के बाद तेल और बिजली के इस्तेमाल से ईंधन का खर्च और घट गया है लेकिन अब भी कारखानों के लिये ईंधन का खर्च बहुत बड़ा खर्च है।

एक और प्रधान खर्च है मज़दूरी का। पूँजीपति इसके लिये बहुत प्रयत्नशील रहता है कि मज़दूरी का खर्च कम हो। हमने पिछले हिस्से में देखा है कि किन उपायों से पूँजीपति मज़दूरी का खर्च कम करता है जैसे मज़दूरों का उत्पादन शक्ति को बढ़ाना, श्रमिकों की एकाग्रचित्तता को बढ़ाना, और मज़दूरी घटाना इत्यादि।

मज़दूरी, ईंधन और कच्चा माल के अलावा भी कुछ खर्च हैं जैसे मशीनों का क्षय और फैक्टरी सञ्चालन का खर्च आदि।

मशीनों के क्षय का खर्च कितना है ? माल की बिक्री पर पूँजीपति जो मुनाफा हासिल करता है उसका एक हिस्सा वह इसलिये अलग कर रखता है कि साल पर साल इसको जोड़कर वह अपनी लागत पूँजी को लौट पाना चाहता है। यही मशीन के क्षय का व्यय है। इस सिलसिले में एक और बात ध्यान रखने योग्य है कि किसी एक वस्तु के उत्पादन के मशीनों के चालू रहते रहते नई और अच्छी मशीनों का आविष्कार होता रहता है।

सञ्चालन के खर्च में शामिल हैं ऐसे खर्च जैसे अफसर, दरबान, मकान सफाई, मज़दूरों के लिए स्कूल, अस्पताल आदि का खर्च। उत्पादन के केन्द्रीकरण से ये खर्च भी घट जाते हैं। जितनी बड़ी फैक्टरी होगी और जितने ज्यादह वस्तुओं का उसमें उत्पादन किया जायगा फी वस्तु सञ्चालन का खर्च उतना ही घट जायगा। व्यापारिक और एडवर्टिज़मेन्ट आदि का खर्च भी इसी मद में शामिल किया जाता है।

इस प्रकार खर्चों का मद अलाहिदा करने से दूसरे पूँजीपतियों की प्रतियोगिता में उसका विभिन्न मदों का खर्च कम करने में आसानी होती है।

ऊपर कही गई बातों से हम नीचे लिखे नतीजों पर पहुँचते हैं —

(१) हर पूँजीपति यह कोशिश करता है कि अपनी वस्तुओं को बेचकर वह पुनरुत्पादन का पूरा खर्च हासिल करे, साथ ज्यादह से ज्यादह मुनाफा हासिल करे।

(२) प्रतियोगिता के कारण और पूँजी का प्रयोग [illegible] साय से हट कर दूसरे व्यवसाय में होने के कारण पूँजी[illegible] का मुनाफा औसत मुनाफा के आस-पास रहता है और [illegible]

मुनाफा समाज का सारी पूँजी के आन्तरिक सगठन पर निर्भर है।

(२) जिस मूल्य को केन्द्र बनाकर पूँजीवादी समाज का मूल्य घूमता है वह है उत्पादन का खर्च और औसत मुनाफे का जोड़। पूँजीवादी समाज को नियन्त्रित करनेवाले इस मूल्य को उत्पादन का मूल्य कहते हैं।

जो मिल मालिक आदि बड़ी बड़ी मशीनों से काम चलाते हैं यानी जिनकी पूँजी का आन्तरिक सगठन अधिक है और जो उत्पादन के मूल्य पर चीज़ों को बेचते हैं उनको उनके मुकाबले में अधिक मुनाफा मिलता है जिनकी पूँजी का आन्तरिक सगठन कम है। पहले क्षेत्र में कुल पूँजी के अनुपात में अतिरिक्त अर्घ्य का परिमाण कम है लेकिन मज़दूरों की उत्पादनशक्ति अधिक है। लेकिन यह तो सही है कि दोनों क्षेत्रों में पूँजीपति को औसत मुनाफा मिलता है। वास्तविक मुनाफा औसत मुनाफा से इधर उधर होने का कारण यह है कि पूँजी एक व्यवसाय से हटाकर दूसरे व्यवसाय में डाल दी जाती है।

यदि समाज द्वारा उत्पन्न सब वस्तुओं के मूल्य को जोड़ा जाय तो वह उनके अर्घ्य के जोड़ के समान होगा। यह यों भी स्पष्ट है क्योंकि एक व्यवसाय में पूँजीपति का नुकसान या दूसरे व्यवसाय में पूँजीपति का लाभ बराबर कर डालता है।

यह बात अब सहज ही समझ में आ सकती है कि अर्घ्य पूँजीवादी समाज में अन्तर्हित नहीं हो जाता बल्कि सारे समाज के लिये यह मूल्य का निर्णायक है। क्योंकि उत्पादन का खर्च और औसत मुनाफा को जोड़कर ही मूल्य बनता है, और औसत मुनाफा औसत अतिरिक्त अर्घ्य पर निर्भर है और अतिरिक्त अर्घ्य अर्घ्य पर निर्भर है।

मूल्य और अर्घ्य का यह सम्बन्ध वास्तव में मनुष्यों के बीच का सम्बन्ध है। इसी सम्बन्ध से यह निर्णय होता है कि सामा

निक श्रम का प्रयोग किस दिशा में किया जायगा। साधारण वस्तु उत्पादक आर्थिक संगठन प्रणाली के अन्तर्गत अर्घ्य ही श्रम की दिशा को निर्धारित करता है। जिस दिशा में मूल्य अर्घ्य से अधिक होता है वहां पूँजी का प्रयोग होता है। लेकिन उन्नत पूँजीवादी समाज में औसत मुनाफा से जहाँ अधिक मुनाफा मिलता है वहाँ पूँजी का प्रयोग होता है। और पूँजी के प्रयोग का असली अर्थ है सामाजिक श्रम के बटवारे में परिवर्तन। इस प्रकार वस्तुओं के मालिकों के बीच एक विशेष सम्बन्ध स्थापित होता है और पूँजीपति और श्रमिकों के बीच तथा पूँजीपति और पूँजीपति के बीच भी विशिष्ट सम्बन्ध कायम हो जाता है।

छठा अध्याय

व्यापारी पूँजी
तथा
व्यापारी का मुनाफा

हमने देख लिया कि अतिरिक्त अर्घ्य की सृष्टि कैसे होती है, कैसे यह मुनाफे में परिणत हो जाता है और यह मुनाफा किस प्रकार पूँजीपति के जेब में पहुँचता है। लेकिन पूँजीपति के अलावा जमींदार और व्यापारी भी बिना परिश्रम के लाभ उठाता है। पूँजीवादी आर्थिक संगठन प्रणाली में इनका क्या हिस्सा है? इनका मुनाफा कहाँ से आता है?

पूँजी का दौरा

दौरे में पूँजी भिन्न अवस्थाओं से होकर गुज़रता है—

(१) उत्पादन प्रक्रिया के आरम्भ में पूँजीपति अपने रुपयों की पूँजी लगाकर कार्यारम्भ करता है। इन रुपयों से वह

उत्पादन प्रक्रिया के लिये शोषण का साधन, जैसे मशीन, कच्चा माल और श्रम शक्ति खरीदता है। इस अवस्था में रुपया वस्तुओं में परिवर्तित होता है। इस अवस्था का चिह्न रेखा में कह सकते हैं—मुद्रा—वस्तु अथवा केवल मु—व जहाँ 'व' का अर्थ है उत्पादन के साधन और श्रम शक्ति का जोड़।

(२) इसके बाद खरीदे हुए वस्तुओं के द्वारा शोषण क्रिया का आरम्भ हो जाता है। इस द्वितीय अवस्था को हम चिह्नित कर सकते हैं—व—मु—व। इस प्रक्रिया में अतिरिक्त अर्थ की उत्पत्ति होती है। इसको हम चिह्नित कर सकते हैं व–उ–व' (जहाँ 'उ' उत्पादन प्रक्रिया के लिये है, और व' = उत्पन्न वस्तुएँ जिसमें अतिरिक्त अर्थ जुड़ा हुआ रहता है।

(३) जिन वस्तुओं को लेकर कार्यारम्भ हुआ उनसे ज्यादह वस्तु पैदा किया गया। इन वस्तुओं को अब बेचा जाता है और इनके रुपये बनते हैं और फिर उत्पादन-चक्र चलता रहता है। इस आखिरी अवस्था को हम चिह्नित कर सकते हैं व'—मु' यानी लागत रुपये से अधिक रुपये की प्राप्ति हुई। हम इस सारे उत्पादन-चक्र या पूँजी के दौरे को चिह्नित कर सकते हैं —

मु–व उ व'–मु'।

व्यापारिक पूँजी

व्यापारिक पूँजी का सम्बन्ध इसी तीसरे हिस्से से है। यदि यह मान लिया जाय कि कारखाने के मालिक को ही अपने कारखाने के उत्पन्न माल को बेचकर रुपया वसूल करना होगा तो उसको इस काम के लिये कुछ पूँजी अलग कर रखना होगा। कुल उत्पन्न वस्तुओं के एक हिस्से से ही यह पूँजी बनती है। माल के खरीद फरोख्त के सिलसिले में बहुत से खर्च होते हैं,

जैसे ऐडवर्टिज्मेन्ट, दुकान रखना, दुकान के लिये नौकर रखना, माल रवाना करने का खर्च इत्यादि। खरीदार ढूँढने में और माल बेचकर रुपया वसूल करने में कुछ समय लगता है। इसका मतलब यह है कि इस बीच में जब कि तैयार माल बिक नहीं जाता पूँजीपति को कारखाना चालू रखने के लिये अलग पूँजी चाहिए।

यह बिलकुल भी जरूरी नहीं है कि माल बेचने का काम कारखाने का मालिक ही करे। माल बेचकर रुपया वसूल करने का काम एक दूसरे पूँजीपति को सौंपा जाता है जो अपनी पूँजी उद्योग धन्धों में न लगाकर व्यापार में लगाता है। यही व्यापारी पूँजी है।

बेचनेवाले का मेहनत

व्यापारिक पूँजीपति अपनी पूँजी लगाता है और मुनाफ़ा कमाता है। उसका अतिरिक्त अर्घ्य कहाँ से आता है? क्या बेचनेवाले उसी प्रकार से अर्घ्य और अतिरिक्त अर्घ्य के स्रष्टा हैं जैसे मजदूर होते हैं। बेचनेवालों का श्रम किस प्रकार का होता है?

एक तो श्रम का प्रयोग वस्तुओं के सञ्चालन में होता है और दूसरा एक जगह से दूसरी जगह ले जाने में, दुकानों में रखने में और उनको बाँधकर भेजने लायक बनाने में आदि।

इसको स्पष्ट करने की आवश्यकता इसलिये है कि वस्तु के दौरे के लिये जो श्रम किया जाता है उससे न अर्घ्य की सृष्टि होती है न अतिरिक्त अर्घ्य की। एक मकान का उदाहरण ले लीजिए। इसका मालिक बदल सकता है लेकिन मकान के हटने की कोई जरूरत नहीं।

हम देख चुके हैं कि अतिरिक्त अर्घ्य की वजह पूँजी या वस्तु का दौरा नहीं हो सकता। एक उदाहरण इस सिलसिले में भी दिया जा सकता है। एक पूँजीपति को ले लीजिये जो

फैक्टरी का मालिक है और अपना माल खुद ही बेचता है। जितने ही मजदूरों को वह काम में लगायेगा उतना ही उत्पन्न वस्तुओं की तादाद बढेगी और उसका मुनाफा बढेगा। बेचनेवालों की परिस्थिति बिलकुल भिन्न है। बेचनेवालों की तादाद बढाने से उत्पन्न वस्तुओं की तादाद नहीं बढ सकती। इसके विपरीत बेचने वालों की तादाद निर्भर है उत्पन्न वस्तुओं की तादाद पर और इस पर कि कितने माल की बिक्री होनी है। एक ओर तो पूँजीपति अपने कारखाने के हद के अन्दर मजदूरों की तादाद बढाना चाहता है और दूसरी ओर बेचनेवालों की तादाद बढाना नहीं चाहता बल्कि घटाना ही चाहता है। बेचनेवालों की तादाद मुकाबले मजदूरों के जिनको औद्योगिक पूँजीपति काम में लगाता है बहुत कम है। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि वस्तु के संचालन में जिस श्रम का प्रयोग किया जाता है उससे अर्घ्य या अतिरिक्त अर्घ्य की सृष्टि नहीं होती। लेकिन यहाँ यह भी स्मरण रखना असंगत न होगा कि मुनाफे का हिस्सा औद्योगिक और व्यापारिक दोनो प्रकार के पूँजीपतियों को बराबर मिलता है। इसका कारण आगे बतलाया जायगा।

पिछले हिस्से में कहे गये श्रम के सिलसिले में यह कहना जरूरी है कि समाजवादी समाज में भी यह श्रम कायम रहेगा। क्योंकि यद्यपि उस समाज में व्यापार की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी और उत्पन्न वस्तुओं के बटवारे के लिये खरीद फरोख्त की जरूरत नहीं रहेगी फिर भी चीजों को एक जगह से दूसरी जगह भेजने की तथा दूसरा जगह भेजने के लिये उनको बाँधने-छाँधने की जरूरत रहेगी। इसलिये इस प्रकार के श्रम का मूल्य वस्तु के उत्पादन के मूल्य में ही शामिल होना चाहिये।

व्यापारी के मुनाफे का क्रम

औद्योगिक पूँजीपति को यदि अपना माल स्वयं बेचना पड़े तो

उत्पादन के क्षेत्र से अपनी पूँजी कुछ हटा लेना पड़ेगा। वह यह भार व्यापारिक पूँजीपति पर छोड़ता है और हजारों झंझटों से मुक्ति पाता है। उसको पहला लाभ तो यह होता है कि व्यापारी उसकी चीजों को खरीद कर उसकी पूँजी लौटाल देता है ताकि वह फौरन ही उत्पादन के काम में जुट सके और दूसरा लाभ यह है कि अपनी चीज़ों को स्वय बेचकर रुपया वसूल करने की परेशानी से वह बच जाता है।

इस प्रकार श्रम और पूँजी के विभाग से वस्तुओं के सञ्चालन के खर्च में पूँजीवादी समाज काफ़ी किफायत हासिल कर लेता है। यह किफायत यों होती है कि व्यापारिक पूँजी का केन्द्रीकरण होता है और चीज़ों की खरीद फ़रोख्त तेज़ी से होती है। यदि औद्योगिक पूँजीपति स्वयं ही व्यापारी बन जाय तो अपनी पूँजी से अपने ही माल की बिक्री में लग सकता है और जिसकी सारी पूँजी व्यापार ही में लगी हुई है वह अपनी पूँजी से कई कारखानों का माल बेच सकता है।

व्यापारी औद्योगिक पूँजीपति का माल बेचकर न केवल उसके लिये वस्तुओं का मूल्य दिला देता है बल्कि उसके लिये मुनाफा भी वसूल कर देता है। वह इस काम को तभी करेगा जब इस मुनाफ़े का कुछ हिस्सा उसको भी मिले। औद्योगिक पूँजीपति भी अपने ही लाभ के लिये खुशी खुशी अपने मुनाफ़े का कुछ हिस्सा व्यापारिक पूँजीपति के साथ बटा लेता है।

जिस रीति से व्यापारी को मुनाफ़े का हिस्सा मिलता है वह यह है। वस्तु कई हाथ बदल कर तब उपभोग करनेवाले के पास पहुँचती है। बनानेवाले के हाथ से वह थोक माल बेचनेवाले के हाथ जाता है, उससे जाता है छोटे दुकानदार के पास, उससे मिलता है ग्राहक को। हर सीढ़ी पर वस्तु का दाम कुछ बढ़ता है और इसका आख़िरी मूल्य वही है जिस दाम पर वह

उपभोग करनेवाले के हाथ बिकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस वस्तु के अर्घ्य से मूल्य कहीं अधिक है। परन्तु वास्तव इसके विपरीत ही है। औद्योगिक पूँजीपति वस्तु को अपने अर्घ्य से कम पर व्यापारी के हाथ बेचता है। उसको इसमें नुक्सान नहीं, वह केवल अतिरिक्त अर्घ्य का कुछ हिस्सा व्यापारी को दे देता है, क्योंकि वस्तु में न केवल उत्पादन के साधन और श्रम शक्ति का अर्घ्य है बल्कि अतिरिक्त अर्घ्य भी उसमें शामिल है। व्यापारी वस्तु को उपभोग करनेवाले के हाथों पूरे अर्घ्य पर बेच कर अतिरिक्त अर्घ्य का वह हिस्सा वसूल कर लेता है जिसको औद्योगिक पूँजीपति ने वस्तु के दाम में शामिल नहीं किया था।

इससे यह सिद्ध है कि उत्पन्न वस्तुओं को बेचकर रुपया वसूल करने के काम के लिये पूँजीपति अपने अतिरिक्त अर्घ्य का कुछ हिस्सा व्यापारी को दे देता है और यही व्यापारी का मुनाफा है। मुनाफ़े के दर की सतह व्यापारी के मुनाफा का परिमाण और मुनाफ़ा का दर किसके ऊपर निर्भर है और कैसे यह स्थिर करने में पूँजी का निर्धारित की जाती है। औद्योगिक स्थान पूँजीपतियों में प्रतियोगिता के कारण उत्पादन के सब क्षेत्रों में एक औसत मुनाफा का दर कायम हो जाता है चाहे अलग अलग क्षेत्रों में अतिरिक्त अर्घ्य का परिमाण कितना ही क्यों न हो। अब हम यह देख सकते हैं कि अतिरिक्त अर्घ्य पैदा किया जाता है अतिरिक्त श्रम के अनुपात में और इस पर निर्भर है कि कितना श्रम शक्ति का खर्च होता है लेकिन इसका बटवारा निर्भर है इस बात पर कि किस क्षेत्र में कितनी पूँजी लगाई गई है।

चूँकि व्यापारिक पूँजीपति तिजारत में एक विशिष्ट परिमाण पूँजी लगाता है, सब पूँजीपतियों की तरह वह भी औसत मुनाफे का दर पाना चाहता है। यदि व्यापारिक पूँजी पर मुनाफ़े का

दर औद्योगिक पूँजी के दर से कम हो तो लोग अपनी पूँजी व्यापार में न लगा कर उद्योग धन्दों में ही लगायेंगे। व्यापारिक पूँजीपति भी अतिरिक्त अर्घ्य का औद्योगिक पूँजीपति का समान दावेदार है। औद्योगिक पूँजीपति भी उसको अतिरिक्त अर्घ्य का बराबर हिस्सेदार मानने के लिये मजबूर है। इस कारण मुनाफा का औसत निकालने के लिये कुल पूँजी के जोड़ में औद्योगिक पूँजियों के साथ तिजारती पूँजी को भी शामिल करना चाहिए। एक अंक से यह और भी स्पष्ट हो जायगा—

औद्योगिक पूँजी = १०,००,००,००० करोड़ रुपये

अतिरिक्त अर्घ्य = १,००,००,००० करोड़ रुपया

$$\text{मुनाफे का दर हुआ} = \frac{\text{अ. अ}}{\text{पू}} \times १०० = १० \text{ सैकड़ा}$$

लेकिन इसमें तिजारती पूँजी शामिल नहीं है। मान लीजिये तिजारती पूँजी है २ करोड़ ५० लाख। अब मुनाफा का दर १० फायदा न होकर होगा

$$\frac{१० \text{ करोड़}}{१ \text{ करोड़} + २\tfrac{१}{२} \text{ करोड़}} \times १०० = ८$$

फीसदी

अतिरिक्त अर्घ्य में हिस्सा बटाने के कारण तिजारती पूँजी मुनाफा के औसत दर को घटाती है।

औद्योगिक पूँजीपति मुनाफा का हिस्सेदार तो है परन्तु मुनाफा के लाभ में भी सहायक है लेकिन व्यापारी तो केवल लेता ही है देता कुछ भी नहीं। इस प्रकार सारे पूँजीवादी समाज के दृष्टिकोण से दौरे का खर्च और व्यापारी का मुनाफा एक आवश्यक परन्तु अनुत्पादक खर्च है। और यह अनुत्पादक दो मानों में है। एक तो यह कि उत्पादन के क्षेत्र से कुछ पूँजी हटा लेनी पड़ती है और दूसरा यह कि किसी प्रकार के अर्घ्य की सृष्टि न करते हुए औद्योगिक पूँजी द्वारा सृष्ट अतिरिक्त अर्घ्य

का एक हिस्सादार बन जाता है। इसलिये पूँजीवादी समाज इस बात के लिये चेष्टित रहता है कि उत्पन्न वस्तुओं को बिक्री कर रुपया वसूल करने में कोई बाधा न डालकर तिजारत में लगाई गई पूँजी घटाई जाय।

तिजारती पूँजी की रकम वस्तुओं के विनिमय के दौरे की तेज़ी के द्वारा घटाई जा सकती है। एक ही रकम से, मान लीजिये १ हज़ार रुपये से, व्यापार-चक्र एक बार भी चल सकता है और दस बार भी। लेकिन अगर खरीद बिक्री का चक्र एक बार न होकर दस बार होता है तो दसवाँ हिस्सा पूँजी का ही ज़रूरत रह जाती है। इस प्रकार तिजारत के लिये आवश्यक पूँजी की रकम घट जाने से अतिरिक्त मूल्य का वह हिस्सा भी घट जाता है जिसे औद्योगिक पूँजीपति को बाध्य होकर व्यापारी को दे देना पड़ता है।

इसलिये व्यापारी वर्ग तो तिजारत के चक्र के रफ्तार को बढ़ाना नहीं चाहता बल्कि धीमा ही करना चाहता है लेकिन व्यक्तिगत रूप से व्यापारी रफ़्तार तेज़ ही करना चाहता है क्योंकि फिर उतनी ही पूँजी पर वह व्यापार के ज्यादह हिस्से पर प्रभुत्व पा सकता है और उसके मुनाफे के रकम की वृद्धि हो जाती है। यह वैसा ही है जैसे कि औद्योगिक पूँजीपति को नई मशीनों के आविष्कार से व्यक्तिगत रूप से लाभ होता है यद्यपि इससे मुनाफ़ा का दर घट जाता है।

हर मुल्क में और व्यापार के हर क्षेत्र में व्यापार चक्र का यानी किसी दुकान विशेष के सारा माल के बिक जाने का एक औसत रफ़्तार होता है और जिस किसी व्यापारी का व्यापार-चक्र इससे तेज होता है उसको औसत से ज्यादह मुनाफ़ा मिलता है। यही कारण है कि व्यापारी श्रेणी अपनी अपनी पूँजियों के रफ़्तार को बढ़ाने में चेष्टित रहते हैं।

बेचनेवालों का शोषण

हम देख चुके हैं कि बेचनेवालों के श्रम से न तो अर्घ्य की सृष्टि होती है और न अतिरिक्त अर्घ्य की। फिर बेचनेवालों का शोषण किस प्रकार से होता है?

इस प्रश्न के उत्तर के लिये हमें यह जानने की जरूरत है कि व्यापार क्रिया में बेचनेवाले का स्थान क्या है। व्यापारी को अपनी पूँजी के अनुपात में मुनाफा मिलता है। परन्तु बिना बेचनेवालों की मदद के उसको पूँजी का लाभ यह नहीं उठा सकता और पूँजी जितनी अधिक होगी बेचनेवालों की तादाद उतनी अधिक होगी। इस तरह यद्यपि बेचनेवाले के श्रम से अतिरिक्त अर्घ्य की सृष्टि नहीं होती है तथापि व्यापार में पूँजी के संचालन के लिये इसका सहयोग अत्यावश्यक है।

बेचनेवालों की जरूरत तो है लेकिन इस खर्च को व्यापारी कम से कम रखना चाहता है। व्यापारी बेचनेवाले को इतना ही देना चाहता है जिससे उसकी श्रम शक्ति कायम रहे, इससे अधिक वह जितनी मेहनत करता है उसके द्वारा वह औद्योगिक पूँजीपति के मुनाफे पर ज्यादह हिस्सा बटाता है।

पूँजीवाद के विकास के साथ बेचनेवाले की हालत और भी खराब होती जाती है, कारण यह है कि बेचने और हिसाब रखने के कायदे इतने सरल होते जाते हैं कि बेचनेवाले के हुनर की कदर जाती रहती है और शिक्षा की तरक्की के साथ बेचनेवालों की तादाद और उनमें प्रतियोगिता बढ़ जाती है।

सहयोग या समवाय का मुनाफा

पूँजीवाद के उच्चतम विकास में भी छोटे पैमाने के पैदावार के पुराने तरीके कायम रहते हैं। इस तरह के धंधा करनेवाले अधिकांश व्यापारियों की पैंचों पर निर्भर रहते हैं। छोटे उत्पत्तिकारियों और व्यापारियों के बीच का सम्बन्ध बहुत

ार से होता है, जैसे इनके द्वारा उत्पन्न वस्तुओं की बिक्री के
ा, कच्चे माल का खरीद से और इनके भोग करनेवालों की
ति और हैसियत से।

सब छोटे-छोटे पैदा करनेवाले अपने वस्तुओं के पैदा करने-
ले के सिलसिले में, कचा माल के खरीदार की हैसियत से
ौर जीवनधारण की सामग्रियों के खरीदार की हैसियत से
यापारी पूँजी के संस्पर्श में आते हैं। व्यापारी जब पूँजीपति को
मलता है तो उसकी बराबरी पर ही मिलता है, लेकिन छोटे
ैमाने पर पैदा करनेवाला जब व्यापारी को मिलता है तब उसकी
हालत उससे नीचे गिरी हुई होती है। इस बात का फायदा
उठाकर कि छोटे उत्पादनकारी को हर समय रुपये की जरूरत
रहती है। उसका बाज़ार के विषय में अच्छा ज्ञान नहीं, आदि,
व्यापारी उससे तिजारती माल सस्ता खरीदता है, उसको जीवन
धारण का सामग्री और उत्पादन का साधन मनमानी दाम पर
बेचता है और इस प्रकार उसके शोषण के द्वारा अतिरिक्त
मुनाफा प्राप्त करता है। इस रीति से छोटे उत्पादनकारी का
अतिरिक्त श्रम व्यापारी का मुनाफा बन जाता है।

तिजारती पूँजी के शोषणक्रिया से बचने के लिये मज़दूर
और छोटे उत्पादनकारी समवाय या सहयोग समिति क़ायम करते
हैं। ये समितियाँ अपने सदस्यों के लिये सस्ते दाम पर कचा
माल और आहार आदि की सामग्रियाँ खरीद देती हैं और
उनके बने हुए वस्तुओं का उचित दाम पर बेच देता हैं।

मज़दूर विशेष तौर पर भोग करनेवालों की समवाय समिति
के सदस्य होते हैं। इन समितियों के सदस्य को मामूली चन्दा
देना पड़ता है। एक साधारण बैठक में इसका कार्यकारिणी
का चुनाव होता है। हिसाब जाँच करने के लिये और सञ्चालन
के लिये भी एक कमेटी नियुक्त की जाती है, । समवाय के कारोबारों

द्वारा उपार्जित मुनाफ़ा के बटवारे के विभिन्न उपाय हैं। या तो कारोबार के वस्तुसदस्यों को सस्ते दाम पर दिया जाता है या बाज़ार दर पर ही दिया जाता है परन्तु साल के अन्त में उनकी खरीदारी के अनुपात में मुनाफे का हिस्सा दिया जाता है।

सहयोग समिति का मुनाफा व्यापारी के मुनाफा के अलावा और कुछ नहीं है। पूँजीवादी अर्थशास्त्रियों का यह कहना कि इस मुनाफा का कारण यह है कि समितियाँ माल सस्ता खरीदती हैं गलत है क्योंकि यह तभी सम्भव है जब चीज़ें अपने मूल्य से कम पर बेची जायें और ऐसा होने से समितियाँ ज्यादह दिनों तक चल नहीं सकतीं। व्यापारी की तरह ये समितियाँ भी औद्योगिक पूँजीपति से वस्तु लेती हैं और ये उनको वस्तु के मूल्य से कम पर बेचते हैं। इस प्रकार से प्राप्त अतिरिक्त मूल्य के हिस्से को ये समितियाँ अपने सदस्यों में किसी न किसी रूप में बाँट देती हैं।

बने हुए माल की बिक्री के लिये जो समवाय समितियाँ बनती हैं उनके मुनाफा का उद्गम यही है कि उनके माल की बिक्री व्यापारी के मारफत नहीं होती। इस क्षेत्र में भी व्यापारी का जो मुनाफा होता है वही समिति का मुनाफा है। व्यापारी के मुनाफे की बचत को समिति अपने सदस्यों में बाँट देता है।

ये सहयोग समितियाँ छोटे उत्पादनकारियों को व्यापारिक पूँजी की गुलामी से रक्षा करते हैं और मज़दूरों के जीवन को उन्नत बनाने में कुछ मदद करते हैं। लेकिन पूँजीवाद इस उन्नति के रास्ते में बहुत बड़ा बाधक है। मज़दूरों के जीवन धारण की सामग्रियाँ सस्ता हो जाने पर श्रम शक्ति का मूल्य और मूल्य घट जाता है और पूँजीपति मज़दूरों का मज़दूरी घटा देता है। इसलिये सहयोगसमितियों के लाभ को मज़दूर तभी क़ायम रख सकता है जब वह अपने को व्यवसाय संघ और राजनैतिक पार्टियों द्वारा भी सुरक्षित रखे।

इसके अलावा यह भी देखा गया है कि ये समवाय समितियाँ छोटे और मध्यम श्रेणी के पूँजीपतियों की जन्मभूमि का जन्मस्थल होती हैं। छोटे उत्पादनकारियों के खुशहाल हिस्से इन्हीं समितियों के ज़रिये पूँजीपतियों की सीढ़ी पर चढ़ने लगते हैं।

सातवाँ अध्याय

लेनदेन की पूँजी और क़र्ज़

क़र्ज़ और कागज का रुपया तथा सूद

हम अब उस प्रक्रिया की छानबीन कर रहे हैं जिसमें अतिरिक्त अर्घ्य के विभाजन में वह हिस्सा पैदा होता है जिसका मालिक न तो औद्योगिक पूँजीपति है न व्यापारिक पूँजीपति बल्कि वह जिसकी पूँजी रुपया है।और जिसको सूद कहते हैं। पूँजीवाद के विकास के उस अवस्था में जिसमें रुपया पूँजी बन जाता है सूद का आविर्भाव होता है। इसलिये पूँजी के दौर में रुपयों की पूँजी का क्या स्थान है, यह जानना जरूरी है।

अतिरिक्त अर्घ्य की प्राप्ति के हेतु वस्तुओं का उत्पादन आरम्भ करने के लिये पूँजीपति का रुपया चाहिए। पूँजीवादी समाज की हालत में इस अतिरिक्त अर्घ्य का रूप रुपया ही होता है। इसलिये रुपया से ही कारोबार शुरूहोता है और रुपया पर ही

कारोबार खत्म होता है। पूँजी के दौर की गति यदि अबाध कायम रखनी है तो यह आवश्यक है कि हर प्रकार की पूँजी का रुपया बनाया जा सके और रुपया को पूँजी में परिणत किया जा सके।

पूँजीवादी समाज में रुपया रखने के माने न केवल यह है कि इसके बदले में इसके मालिक को समान मूल्य की वस्तु मिल सकती है बल्कि वह मुनाफा पाने का हकदार बन जाता है और अतिरिक्त अर्घ्य का हिस्सेदार हो जाता है। रुपया न केवल अर्घ्य का सार्वजनिक रूप हो जाता है बल्कि पूँजी का भी सार्वजनिक रूप ग्रहण करता है। साधारण विनिमयात्मक आर्थिक संगठन में रुपये का जो काम है उसके अलावा एक नया काम इसके सुपुर्द हो जाता है—वह है धन पूँजी का काम।

इसलिये मुनाफा के पीछे जो दौड़ता है वह रुपया के पीछे दौड़ता है अर्थात् पूँजी के पीछे दौड़ता है। जिसका यह सार्वजनिक रूप है। अतिरिक्त अर्घ्य हासिल करने के लिये यह काफी है कि पूँजीपति के पास धन पूँजी हो, हमेशा के लिये नहीं, सिर्फ एक सीमित समय के लिये जिस दर्म्यान वह इसको उत्पादन-कार्य में लगा सके, वस्तु पैदा कर सके और इनका अर्घ्य वसूल कर सके।

जब कोई अपना रुपया दूसरे को सीमित समय के लिये व्यवहार करने को देता है तो उस क्रिया को लेनदेन कहते हैं। यहाँ हम लेनदेन के उस रूप पर विचार कर रहे हैं जिसमें कर्ज लिया गया रुपया धन पूँजी का काम करता है यानी अतिरिक्त अर्घ्य हासिल करने का साधन बन जाता है।

सकार पूँजी

यह बतलाया जा चुका है कि स्थिर पूँजी हर उत्पादन चक्र में अपने अर्घ्य का केवल एक अंश वस्तुओं को दे देती है।

मशीनों की रगड़ घिस के एवज़ में जो रुपया किसी उत्पादन चक्र में उत्पन्न माल की बिक्री से पूँजीपति वसूल पाता है तब तक बेकार रहता है जब तक कि पुरानी मशीन बिलकुल घिस नहीं जाता है और उसकी जगह नई मशीन बैठाई जाती है या इतना रक़म मिल जाय जिसके द्वारा नई मशीनें और इमारत खरीदकर उत्पादन में वृद्धि की जाय। इस बीच में पूँजीपति का रुपया बेकार पड़ा रहता है।

कुछ रुपया तो यों भी काम में आ सकता है कि पुरानी मशीनों से ही ज्यादा माल पैदा किया जाय और इस उद्देश्य से श्रम शक्ति और कच्चे माल की खरीद की जाय। उदाहरण के लिये अगर मिल रात को भी चालू किया जाय तो उसी पुरानी मशीन पर नया कच्चा माल और मजदूर लगाये जा सकते हैं और इस तरह बेकार रुपये के एक हिस्से से पैदावार बढ़ाई जा सकती है। लेकिन बेकार रुपये का एक बहुत (अल्प) छोटा अंश ही इस प्रकार आ सकता है और अधिकांश बेकार ही रहता है।

पूँजी के उस हिस्से का भी एकांश बेकार रह सकता है जो कच्चा माल और श्रम शक्ति खरीदने में इस्तेमाल किया जाता है। यह अंश बेकार इसलिये हो जाता है कि पूँजीपति कारोबार चलाने के पहले कुछ फालतू रुपया इस कारण रखता है कि सारा उत्पन्न माल बिकने के समय तक उसका मिल या कारोबार बन्द न हो जाय और वह उत्पादन क्रिया को जारी रखना चाहता है परन्तु उत्पन्न माल अगर अन्दाज के समय से पहले बिक जाय तो यह फालतू रुपया बेकार हो जाता है।

जिस रुपये से पूँजीपति मजदूरी देता है उसका प्रयोग भी वह चाहे जैसे कर सकता है यद्यपि बहुत ही थोड़े समय के लिये क्योंकि वह हफ्तावारी या माहवारी मजदूरी देता है। अतिरिक्त अर्घ्य का भी जो उसको मिलता है वह इच्छानुसार प्रयोग करता है।

यदि वह उसको अपने काम के लिये इस्तेमाल न करे तो उसको कुछ समय के लिये इन्तजार करना पड़ेगा जब तक इतनी रकम न इकट्ठा हो जाय कि पैदावार में वह लगाया जा सके।

इस प्रकार विभिन्न कारणों से जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है कुछ रुपया हर समय हो बेकार रहता है और जो लेन देन के काम में आता है।

सूद जब सीमित समय के अन्दर व्यवहार के लिये कोई पूँजीपति रुपया उधार लेता है तो वह इसको उत्पादन के विस्तार के काम में और नया अतिरिक्त अर्थ पैदा करने के काम में लगाता है। क़र्ज़ा देने वाला क़र्ज़ तभी दे सकता है जब उसको इस अतिरिक्त अर्थ का कुछ हिस्सा मिले।

जब इस प्रकार क़र्ज़ दिया जाता है तो इसको लेनदेन की पूँजी कहते हैं और क़र्ज़ देनवाले को अतिरिक्त अर्थ का जो हिस्सा मिलता है उसको सूद कहते हैं।

सूद का दर पूरे क़र्ज़ के रकम के लिये अनुपात में क़र्ज़ा देनवाले को मुनाफा मिलता है उसको सूद का दर कहते हैं। इसका दर कैसे निश्चित किया जाता है? सूद अतिरिक्त अर्थ का ही एक हिस्सा होने के कारण यह तो स्पष्ट ही है कि अधिक से अधिक सूद उतना हो हो सकता है जितना कि लेनदेन की पूँजी का अतिरिक्त अर्थ हो। सारे समाज के लिये अधिक से अधिक सूद हो सकता है औसत मुनाफा के समान।

विशेष दोनों में सूद औसत दर से ऊँचा हो सकता है। उदाहरण के लिये यदि किसी पूँजीपति को अपनी पूँजी पर मुनाफा न मिलता दीखता हो तो वह काफी सूद पर रुपया उधार ले सकता है ताकि उसके मुनाफे में घाटा न हो। ऐसा भी हो

सकता है कि अतिरिक्त मुनाफा की आशा पर वह ज्यादह सूद देने को तैयार हो जाय।

लेकिन साधारण तौर पर ऐसा होता नहीं। क्योंकि उस हालत में कुछ पूँजी उद्योग धन्धों से उठकर लेनदेन की पूँजी बन जाती और सूद का दर घट जाता। सामाजिक पैमाने पर सूद के दर की सीमा मुनाफे के दर की औसत होगी। साधारणतः यह सीमा से नीचे ही रहेगी क्योंकि जो क़र्ज़ लेता है वह क़र्ज़ के रक़म से उत्पन्न अतिरिक्त आय का अधिकांश ही स्वयं हज़म कर लेता है और अल्पांश क़र्ज़ देनेवाले के लिये छोड़ता है।

कम से कम सूद क्या हो सकता है? यह शून्य नहीं हो सकता।

इन दोनों सीमाओं के अन्दर सूद का उतार चढ़ाव क़र्ज़ की माँग और उसकी पूर्ति पर निर्भर है। लेनदेन की पूँजी जितनी अधिक होगी सूद उतना ही कम होगा और यह पूँजी जितनी कम होगी सूद उतना ही अधिक होगा।

पूँजीवाद के विकास के साथ औसत मुनाफे का दर गिरता रहता है और इसलिये सूद के दर का भी उतार यानी नीचे की सीमा की ओर जाना अवश्यम्भावी है। इसके अलावा पिछड़े हुए मुल्कों में जहाँ औसत मुनाफे का दर अधिक है सूद का भी दर अधिक है।

अधिकांश पूँजीपतियों के मुनाफा और औसत मुनाफा के बीच का अन्तर फिर भी अधिक होता है लेकिन सूद के दरों का अन्तर बहुत कम होता है। इसका कारण यही है कि लेनदेन की पूँजी के प्रयोग क्षेत्रों का परिवर्तन आसानी से हो सकता है लेकिन औद्योगिक पूँजी के लिये इतनी आसानी से क्षेत्र परिवर्तन सम्भव नहीं। औद्योगिक पूँजी के प्रयोग क्षेत्रों में जितनी वैचित्रता है लेनदेन की पूँजी के प्रयोग में उसका अल्पांश भी

वैचित्र्ता नहीं है, इसलिये, और इसलिये भी कि लेनदेन के पूँजीपतियों को कर्ज की मांग और पूर्ति का बेहतर अनुमान रहता है। सूद का दर अधिक निश्चित रहता है।

औद्योगिक और व्यापारिक पूँजी की तरह धन पूँजी का एक विशेष प्रकार की पूँजी बन जाती है। व्यापारियों की तरह धन पूँजियों का एक श्रेणी बन जाती है जिनका काम होता है दूसरों को कर्ज देना और सूद वसूल करना। जैसे इतिहास में औद्योगिक पूँजी के पहले तिजारती पूँजी का आविर्भाव होता है उसी प्रकार धन पूँजी का भी आविर्भाव होता है। मुद्रा के आविर्भाव के साथ ही धन पूँजी का आविर्भाव सम्बन्धित है।

पहले के युग के सूद में और आज के सूद में कुछ अन्तर है। पहले लोग रुपया इकट्ठा करते थे और जब दूसरा कोई रुपया उधार लेता था तो वह कुछ मुआवज़ा देता था जिसको सूद कहा जा सकता है। आज के सूद के माने हैं छोटे उत्पादनकारियों का शोषण। न केवल इनके द्वारा उत्पन्न अतिरिक्त अर्घ को ही पूँजीपति हड़प करता है बल्कि उनके जीवन निर्वाह के लिये आवश्यक वस्तुओं का भी एक अंश वह हड़प कर लेता है। लेकिन चूंकि धन-पूँजी के कारण उत्पादन का विस्तार होता है, इसलिये जब कभी धन पूँजी का मालिक अतिरिक्त अर्घ का हिस्सेदार बन जाता है, उसका एक अंश औद्योगिक पूँजीपति को दे देना पड़ता है।

पूँजीपति मुनाफा का हिसाब लगाते समय अपनी पूँजी पर सूद को इससे घटा देता है और इस प्रकार से जो मुनाफा का अंक निकलता है वही उसके लिये खालिस मुनाफा है।

आठवाँ अध्याय

क़र्ज़ और बंक

यदि लेन देन की प्रथा न होती तो धन पूँजी को औद्योगिक बंक और तिजारती प्रर्थों पूँजी में रूपान्तरित होने में बहुत विलम्ब लगता और इस क्रिया में बहुत रुकावट पड़ती। बचे हुए रुपये खाली पड़े रहते जब तक न कि इतना लग जाता कि उससे नई मशीनें और इमारतें आदि ख़रीदी जा सकतीं।

यही नहीं कि लेन-देन की पूँजी के अभाव में बचे हुए रुपये का प्रयोग औद्योगिक पूँजी के रूप में नहीं किया जा सकता बल्कि उत्पादन त्रिया में भी काफ़ी रुकावट पड़ती क्योंकि उत्पन्न माल सारा का सारा एक साथ बिक नहीं सकता है और वस्तुओं के रूप में पूँजी अटकी पड़ी रहती है।

पुराना माल बिक जाने तक उत्पादन त्रिया रुकी न रहे इस लिये पूँजीपति को अधिक पूँजी चाहिए। पुराना माल बिक कर

जब तक रुपया वसूल न हो जाय तब तक ये मरी हुई पूँजी होती है। जितनी जल्दी ये बिक जायँ पूँजीपति के लिये अधिक पूँजी के परिमाण की उतनी ही कम आवश्यकता है।

लेन देन की पूँजी का दोनों ही काम होता है—बचत के रुपये में इतनी वृद्धि कर देना कि उत्पादन का दायरा बढ़ जाय और जब तक उत्पन्न माल की बिक्री न हो जाय तब तक उत्पादन क्रिया को जारी रखना।

यह होता कैसे है? मान लीजिये कि पूँजीपति के पास तैयार माल है, समझ लीजिये छींट का कपड़ा। बहुत से कारण हैं जिससे वह एकाएक उनको बेच नहीं सकता। अब उत्पादन क्रिया चालू रखने के लिये उसको कोयले की ज़रूरत है और कोयला उसको मिलता नहीं क्योंकि उसके पास रुपया नहीं है। एक ओर उसके पास वस्तु है बिकने के लिये और दूसरी ओर उसको आवश्यकता है कोयले की और केवल रुपये के माध्यम की ताकि दोनों का विनिमय हो सके। हाँ, यदि कोयले का मालिक इन्तज़ार करने के लिये तैयार है जब तक कि छींट के कपड़े बिक न जायँ तब तो कारोबार चल सकता है। नक़द देने के बजाय वह एक निश्चित समय के बाद देने का वादा करता है। इस प्रकार से वस्तुओं के दौरे का समय घट जाता है और उसको उत्पादन क्रिया जारी रखने के लिये अधिक पूँजी की आवश्यकता नहीं होती।

इस प्रकार के क़र्ज़े को जो वस्तुओं के दौरे में सहायक होती है और उत्पन्न माल (जो बिक नहीं पाती) का पूँजी के दौरे के मार्ग में रोड़ा नहीं बनने देती, तिजारती क़र्ज़ा कहते हैं।

उस क़र्ज़ को, जो बचत के रुपये को उद्योग के उपयोगी बनाती है और परती पूँजी को जरखेज़ बनाती है, बैंक क़र्ज़ कहते हैं।

ऐसा हो सकता है कि व्यक्तिगत विश्वास पर एक पूँजीपति दूसरे को क़र्ज़ दे सकता है लेकिन साधारण तया वह ज़मानत लेकर क़र्ज़ देता है चाहे उस ज़मानत की शकल कुछ हो। जब क़र्ज़ लेनेवाला लिखित दस्तावेज़ में एक निश्चित समय के अन्दर क़र्ज़ अदा करने का वादा करता है तो उसको साधारण विनिमय का बिल कहते हैं।

क़र्ज़ की ज़मानत

विनिमय का बिल

वह विनिमय का बिल जिसमें क़र्ज़ लेनेवाला खुद क़र्ज़ अदा करने का वादा नहीं करता बल्कि दूसरे पर अपना यह ज़िम्मेदारी डालता है उसको ड्राफ़्ट कहते हैं। जैसे कपड़े के कारख़ाने का मालिक कोयले के खान के मालिक से १०,००० रुपये का कोयला क़र्ज़ पर लेता है और अपना कपड़ा दूसरे व्यापारी के हाथ बेचता है इस वादे पर कि रुपया बाद में मिलेगा यानी विनिमय का बिल लेकर, तो इसको बतौर ड्राफ़्ट के वह कोयले के मालिक को दे सकता है।

जब इस ड्राफ़्ट पर उसका दस्तख़त हो जाता है जो अन्तिम दर्जे पर रुपया देनेवाला है तो यह ज़मानत का काम करता है। विनिमय के बिल में शिरकत दो की होती है, ड्राफ़्ट में कम से कम तीन की। लेकिन ड्राफ़्ट का विस्तार हो सकता है और इसमें तीन से ज़्यादह की शिरकत हो सकती है। विनिमय का बिल सरकारी काग़ज़ पर लिखा जाता है। विनिमय के 'बिल' से पूंजी के दौरे में आसानी होती है और बिना नक़द के ही पूँजीपतियों का आपसी हिसाब तय हो जाता है।

डिस्काउन्ट

विनिमय का बिल आइन्दा क़र्ज़ अदा करने का वादा होता है। यदि जिसके पास विनिमय का बिल है उसको फ़ौरन रुपये की ज़रूरत है तो वह एक दूसरे पूँजीपति को अपना बिल दस्तख़त करके दे देता

है। पूँजीपति बिल के तारीख़ तक इन्तज़ार करता है और तब उसको बिल के रुपये मिल सकते हैं। तारीख़ के पहले बिल भुनवाने को डिस्काउन्ट करना कहते हैं।

यह तो सहज ही समझा जा सकता है कि धन पूंजिक विनिमय के बिल के बदले पूरा रुपया नहीं देता है। वह एक रक़म अपने पास रख छोड़ता है जिसको डिस्काउन्ट सूद कहते हैं। इस कारोबार में वह बिल के मालिक को कुछ समय के लिये एक निश्चित रक़म उधार देता है और बिल का भुनाना एक प्रकार का लेन देन हुआ। यह बिल के भुनाने का काम बिल का असली लिखनेवाला स्वयं भी कर सकता है। इस प्रकार बिल का भुनाना लेनदेन की हद को बहुत बढ़ा देता है और बैंक क़र्ज़ और तिजारती क़र्ज़ का एक सम्बन्ध स्थापित करता है।

बैंक

अभी तक क़र्ज़ का प्रत्यक्ष रुपया जो कुछ व्यक्तियों के बीच महदूद था। लेकिन यह सीधा क़र्ज़ उनके दरम्यान जिनके पास बचत का रुपया है और जिनको रुपये की ज़रूरत है सब समय सम्भव नहीं। इसीलिये बैंक की ज़रूरत होती है जो दोनों पक्षों की ओर से दलाल का काम करता है और जो क़र्ज़ का व्यापार चलाता है।

हर पूँजीपति के बचत का सामान्य बेकार धन का परिमाण एकत्रित होने पर बैंक में एक भारी ख़ज़ाना जमा हो जाता है जो काफी समय के लिये सूद पर उधार दिया जा सकता है क्योंकि रुपया जमा करनेवालों में से हरएक को एक साथ रुपया निकालने की ज़रूरत नहीं पड़ती। हर बैंक के यही दो मुख्य काम हैं—एक तो रुपया जमा करना और दूसरा रुपया उधार देना।

बैंक की कुछ मूल पूँजी होती है जिसके मालिक थोड़े से पूँजीपति होते हैं। इसके अलावा बैंक की कुछ रिज़र्व पूँजी होती है जो सालाना मुनाफ़ा का एक हिस्सा होता है और जो बैंक का

कारोबार बैंक द्वारा भी काम आता है। अब बैंक में रुपया जमा होता है जिसको नगदपूंजी कह सकते हैं। बेकार धन के मालिक अपना अपना रुपया बैंक में जमा करते हैं। रुपया जमा दो प्रकार से होता है, एक, जिसमें जमा करनेवाला रुपया जब भी चाहे निकाल ले सकता है और दूसरा, जिसमें जमा करनेवाला अपनी रजामन्दी इस बात पर देता है कि एक निश्चित तारीख से पहले वह रुपया नहीं निकालेगा।

यह तो जाहिर है कि बैंक उनको ज्यादह सूद देगा जो एक निश्चित तारीख से पहले अपना रुपया नहीं निकालेंगे क्योंकि दूसरों के लिये बैंक को काफी रुपया तैयार रखना पड़ता है ताकि रुपयों की माँग होते ही वह असल जमा अदा कर सके।

बिना तिथि के रुपया जमा करनेवाले चालू हिसाब में अपना रुपया जमा करते हैं और जब चाहे अपना रुपया निकाल सकते हैं। इनका कारोबार बहुत सारा चेक के जरिये होता है। चेक के जरिये एक व्यक्ति अपना रुपया दूसरे को दे सकता है और इस प्रकार बिना रुपया लिये दिये ही लोगों का हिसाब चुकता हो सकता है। बैंकों में आपस में भी कारोबार होता रहता है और यदि दो व्यक्तियों का हिसाब दो बैंकों में है तो भी उनका हिसाब किताब हो सकता है।

लाखों करोड़ों मजदूर किसानों के बचत की छोटी छोटी रकमों को जमाकर पूँजीपति बड़े बड़े बैंक चलाते है और उनको नगण्य सूद देकर खुद मोटे रकम का मुनाफा कमाता है।

बैंक अपने जमा रुपये का क्या करता है? बिना पर्याप्त जमानत के बैंक किसी को रुपया नहीं दे सकता। एक तो विनिमय के बिल का हिसाब होता है। इस बिल का मालिक बैंक से बिल भुनाता है और कुछ बट्टा देने पर बिल का रकम उसको मिल जाता है। बिल का रुपया वसूल करने की जिम्मेदारी बैंक लेता

है। इस क्षेत्र में विनिमय का बिल ही जमानत है। यदि निश्चित तिथि पर बिल का रुपया न मिले तो बैंक को हक है कि जिन वस्तु-समूहों की बुनियाद पर बिल लिखी गई है उनको वह ले ले और इस प्रकार रुपया वसूल पावे।

गिरवी रखकर भी बैंक रुपया उधार दे सकता है। पहले ज़माने की तरह केवल सोना, हीरा, जवाहरात रखकर ही नहीं बल्कि काग़ज़ात की बुनियाद पर भी रुपया उधार दिया जाता है।

वस्तुओं की जमानत पर भी रुपया उधार मिल सकता है। कोई जरूरी नहीं कि वस्तु समूह बैंक की इमारत में ही रक्खा जाय। किसी आढ़त में वह जमा किया जा सकता है जिसका रसीद उसको मिलता है। इस रसीद के बिना उसको सामान वापस नहीं मिल सकता। जब बैंक में वह यह रसीद जमा करता है तो इसकी जमानत पर उसको रुपया उधार मिल सकता है।

रेल या जहाज़ पर भी जब माल रवाना किया जाता है तो उनकी रसीद के बिना पर भी रुपया उधार मिल सकता है।

जमीन या इमारत की जमानत पर भी रुपया उधार दिया जाता है। ये ही मुख्य जमानत हैं।

इन दोनों कामों के अलावा बैंक एक और काम भी करता है। जैसे एक शहर के बाशिन्दे के क़र्ज़ की रक़म दूसरे शहर के बाशिन्दे से वसूल करना इत्यादि। इस काम के लिये बैंक को अलग से कमीशन मिलता है।

बैंक का मुनाफ़ा क्या है? बैंक रुपया जमा करनेवाले को सूद देता है और सूद लेकर जमानत पर रुपया क़र्ज़ देता है। इन दोनों सूदों का अन्तर ही बैंक का मुनाफ़ा है। यह मुनाफ़ा भी साधारण मुनाफ़े के औसत के लगभग ही होगा नहीं तो लोग बैंकों में अपनी पूँजी न लगाकर उद्योग धन्धों में लगायेंगे।

नवाँ अध्याय

क़र्ज़ नोट और काग़ज़ के रुपये

हमने देख लिया कि कई सौदों के दर्म्यान एक विनिमय का बिल रुपये की तरह वस्तुओं के दौरे के माध्यम का स्थान लेता है। इसी तरह चेक भी रुपया की जगह ले सकता है। विनिमय के बिल को चुकाने की ज़िम्मेदारी होती है उस पर जिसके नाम बिल चढ़ाया जाता है और चेक पर रुपया देने का ज़िम्मेदार होता है बंक।

जैसे पूँजीपति नक़द की जगह चेक से काम लेता है, बंक के क़ब्ज़े में काफ़ी रुपया होने के कारण, बंक भी अपने ग्राहकों को नोट देता है जो किसी समय भुनाये जा सकते हैं। चेक की तरह बंक नोट भी हाथों हाथ रुपये की जगह घूम सकता है जब तक यह बंक को वापस न लौट जाय।

बंक नोट भी किसी ज़मानत ही पर दिया जा सकता

है। विनिमय का बिल भी इस ज़मानत का काम कर सकता है।

बैंक नोट काफी समय तक चालू रहता है और सब नोट एक साथ भुनाये नहीं जाते, इसलिये बैंक री उस पूँजी का जिसके बिना पर नोट निकाले जाते हैं, एक हिस्सा दूसरे काम में लगाया जा सकता है। दूसरे शब्दों में उन बैंक नोटों की रकम जो भुनाये न गये हों एक प्रकार का कर्ज़ है जो बिना सूद बैंक को मिलता है। नोट निकालने का बैंक को यह बहुत बड़ा फ़ायदा है। बैंक नोट निकालने के इस अधिकार का दुरुपयोग न कर सके इसलिये इसको नियंत्रित रखने के लिये सरकारी नियमन की आवश्यकता है, क्योंकि अन्यथा यह कठिनाई पैदा हो सकती है कि नोट भुनाने के लिये बैंक के पास रुपये न रहें। सरकार यह निश्चय करती है कि बैंक अधिक से अधिक कितने नोट निकाल सकता है और नोटों के किस अनुपात में ज़मानत के तौर पर सोना रखना पड़ेगा। इस नियन्त्रण के सिलसिले में सरकार बैंकों के मुनाफ़े का एक हिस्सेदार भी बन जाती है।

बैंक नोट और मुद्रा बैंक नोट एक प्रकार का कर्ज़ नोट है जो मुद्रा का काम करता है। लेकिन मुद्रा का सब काम नोट नहीं कर सकता। मुख्यतः मुद्रा के चार काम हैं। (१) अर्घ्य का परिमाण नापना, (२) वस्तुओं के दौरे का साधन बनना, (३) अदायगी के साधन का काम करना, तथा (४) जमा करने के काम आना। इसमें से (२) और (३) का काम तो नोट कर सकता है लेकिन (१) और (४) का काम नहीं कर सकता। (२) और (३) धन पूँजी का काम है और अतिरिक्त अर्घ्य पैदा करने की प्रक्रिया में एक कोठी मात्र है।

बैंक नोट स्वतः कोई चीज़ नहीं है। यह मुद्रा, वस्तु आदि का प्रतीक मात्र है। वास्तव अर्घ्य का यह क्षणिक प्रयत्नी है। इसलिये नोट दूसरे वस्तुओं के अर्घ्य को निर्धारित नहीं कर सकता। विपरीत इसके जिन वस्तुओं के अर्घ्य का यह प्रतीक है उन्हीं के द्वारा इसका मूल्य निर्धारित होता है। सोना चाँदी से ही वस्तुओं के अर्घ्य का परिमाण किया जाता है। इस काम में *नोट सोना चाँदी की जगह नहीं ले सकता*, क्योंकि सोना, चाँदी के प्रतीक के नाते नोट का कोई अलग अर्घ्य नहीं होता। इसका अर्घ्य सोना चाँदी के अर्घ्य के ऊपर ही निर्भर है। साथ ही बैंक नोट कोई जमा नहीं करता, जिसको जमा करना होता है वह सोना चाँदी ही जमा करता है।

बैंक अपने *तिजारती कारोबार में नोटों का इस्तेमाल* क़र्ज़ उधार के रूप में करते हैं। इन नोटों का आपसी विनिमय हो सकता है। इसको लेने के लिये कोई बाध्य नहीं है।

राष्ट्र को जब सरकार के ऊपर पावना चुकाना होता है तो वह नोट निकालता है जिससे राष्ट्र के खज़ाने को कुछ आमदनी हो जाती है। इन नोटों का विनिमय नहीं हो सकता है और हर एक इसको लेने के लिये बाध्य है।

कागज़ के रुपये के ख़रीदने की ताक़त

बैंक नोट उतने ही निकाले जाते हैं जितनों की ज़मानत बैंक में होती है। बैंक नोटों की तादाद इस पर निर्भर है कि दौरे में कितने रुपयों की माँग है और देश की साधारण आर्थिक स्थिति क्या है? राष्ट्र जो नोट निकालता है वह इस पर निर्भर नहीं कि वस्तुओं के दौरे के लिये कितने रुपयों की ज़रूरत है। राष्ट्र तो ज़्यादातर नोट तभी निकालता है जब उसकी आमदनी से खर्च ज़्यादह होता है।

ऐसी हालत में क्या सोने को और कागज़ के रुपये का खरीदने की ताक़त बराबर होगी ? इसका उत्तर इस पर निर्भर है कि किस तादाद में कागज़ के रुपये निकाले गये हैं और वस्तुओं के दौरे के साधन रूप कितने रुपयों की ज़रूरत है। किसी विशेष समय पर किसी देश में दौरे के लिये कितने रुपयों की ज़रूरत है यह इस पर निर्भर है कि बाज़ार में दौरे पर कुल वस्तुओं का अर्घ्य कितना है और रुपया या इसके एवज़ी के दौरे का रफ़्तार क्या है ? दौरे पर वस्तुओं का अर्घ्य जितना अधिक होगा उतना ही ज़्यादह रुपयों की ज़रूरत होगी। रुपये के दौरे का रफ़्तार जितना अधिक होगा उतने ही कम रुपये की ज़रूरत है। लेकिन दौरे पर कितने रुपये की ज़रूरत है इसका निश्चय करने के लिये दौरे पर कुल वस्तुओं के अर्घ्य से उतने वस्तुओं का अर्घ्य घटा देना होगा जो उधार पर बेचे जाते हैं। इस तादाद में उन रुपयों का जोड़ लगाना होगा जिनकी ज़रूरत तनख़्वाह आदि देने के लिये पड़ता है। उन दोनों का जोड़ना की ज़रूरत नहीं जो आपस में हिसाब में कट जाते हैं।

दौरे के लिये जितने रुपये की ज़रूरत है उससे ज़्यादह रुपया रहने पर फ़ालतू रुपया लोग जमा करते हैं या गलाकर ज़ेवरात बनाते हैं। अगर सोना चाँदी और कागज़ के रुपये साथ चलते हैं तो दोनों के जोड़ से जितने रुपये फ़ालतू बचते हैं उतना रक़म जमा करने के काम आता है।

जब दौरे पर वस्तुओं के अर्घ्य से ज़्यादह नोट चालू होता है तो कोई इसको सोने के सिक्के के बराबर मूल्य पर लेने को तैयार नहीं होता और स्वाभाविक बाक़ी हालात समान रहने पर जितने ज़्यादह नोट चालू होंगे उनके खरीद की ताक़त उतनी ही कम होगी। ऐसी दशा में जिन्होंने कागज़ के रुपये बचा

राष्ट्र काग़ज़ का रुपया निकालकर अपना खर्च निबाहना चाहता है। इस प्रकार जनता के मत्थे यह अपना खर्च डाल देता है। यह राष्ट्र के लिये एक आमदनी की ज़रिया बन जाती है—एक विशेष प्रकार का टैक्स जिसका भार विशेषकर मज़दूरों को उठाना पड़ता है।

साधारण अवस्था का पुनरावर्तन

इस तरह की हालत ज्यादह दिन नहीं रह सकती और एक स्थायी मुद्रा प्रथा की आवश्यकता पड़ने लगती है।

इस हालत के सुधार के लिये पहली आवश्यकता यह है कि राष्ट्र के बजट में सामञ्जस्य हो, खर्च और आमदनी के पल्ले बराबर हों। यह काग़ज़ के रुपयों के ज़रिये नहीं हो सकता बल्कि टैक्स, विदेशों से कर्ज़ और सरकारी कारखानों के मुनाफ़ा आदि से ही हो सकता है। परन्तु, हाँ, लड़ाई के समय, या इसके बाद फ़ौरन ऐसी व्यवस्था सम्भव नहीं। मुल्क की आर्थिक स्थिति में सुधार के साथ ही यह सम्भव है। और यह भी बात सही है कि मुद्रास्थिति के स्थायी होने से भी आर्थिक दशा सुधर जाती है। यह इस प्रकार से होता है कि काग़ज़ के नये रुपये निकाले नहीं जाते और सरकार को टैक्स आदि के लिये जो पुराने रुपये मिलते जाते हैं उनको वह फिर से चालू नहीं करती।

अन्तराष्ट्रीय क्षेत्र में हिसाब का चुकता

दो देशों के व्यापारिक सम्बन्ध में दौरे का माध्यम सोना ही हो सकता है काग़ज़ का रुपया नहीं। दो देशों के सोने के सिक्कों के परिवर्तन का अनुपात उन सिक्कों में सोने के परिमाण पर निर्भर है। इन सिक्कों के विनिमय की दरों में अन्तर का परिमाण उतना ही हो सकता है जितना कि सोना गलाने की क़ीमत हो।

परन्तु दो देशों के बीच कारोबार केवल नक़द नहीं क़र्ज़ पर भी चलता है। यहाँ भी विनिमय का बिल रुपये की जगह ले सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार क्षेत्र में इन बिलों को विदेशी विनिमय बिल कहा जाता है।

भिन्न समयों पर इन विदेशी बिलों को भुनाने के जो दर होते हैं उनमें अन्तर कितना होगा यह इस पर निर्भर होगा कि एक देश से दूसरे देश को जहाज़ के ज़रिये सिक्के भेजने का दाम कितना लगता है, तथा एक देश के बिलों की दूसरे देश में कितनी माँग है। जो दूसरे देश किसी एक देश के क़र्ज़दार होंगे उन देशों में उस देश के बिलों की ज़्यादह माँग होगी और वहाँ के बिलों का दाम चढ़ जायगा। यह चढ़ाव पूर्वोक्त सीमा से अधिक नहीं हो सकता। दो देशों के आपसी क़र्ज़ की स्थिति पर ही विदेशी बिलों का दर निर्भर है। जिस देश का क़र्ज़ दूसरे देश पर होता है उसकी स्थिति लाभदायक होती है। किसी देश के आयात निर्यात से ही विशेष रूप से स्थिति का निर्देश होता है, यद्यपि उधार क़र्ज़ का भी इस पर असर पड़ता है। व्यापारिक स्थिति असुविधाजनक होने पर रुपयों का दर घट सकता है।

दसवाँ अध्याय

ज़मीन पर लगान

उस पूँजीपति के लिये जो एक पूँजीवादी कारोबार चलाना चाहता है न केवल मशीन, कच्चा माल और श्रम शक्ति चाहिये बल्कि उसको ज़मीन भी चाहिये जिस पर ही उसका सारा कारोबार चल सकता है। उद्योग धन्दों से भी ज़्यादह, बतौर एक उत्पादन के साधन के ज़मीन की ज़रूरत है ज़रायत के लिये, खनिज पदार्थों के लिये और कच्चे माल के उत्पादन के लिये।

ज़मीन, यदि इस पर प्रयोग किये गये श्रम का हिसाब न लगाया जाय, प्रकृति की देन है जिस पर कोई दाम नहीं लगता। इसलिये होना तो यह चाहिये कि हवा, धूप, आदि की तरह लोगों को ज़मीन भी मुफ्त मिलनी चाहिये। परन्तु वास्तव ऐसा है नहीं। ज़मीन का रक़बा सीमित है और पूँजीवाद की उत्पत्ति

के बहुत पहले से ही ज़मीन जागीरदारों की निजी सम्पत्ति हो गई थी।

ज़मीन सीमित होने के कारण और ज़मींदारों की व्यक्तिगत सम्पत्ति होने के कारण, इसके इस्तेमाल के लिये वे लगान वसूल करते हैं। लगान के दो हिस्से हैं। एक हिस्सा तो उस पूँजी पर देना पड़ता है जो ज़मीन की तरक्की के लिये, उस पर आबपाशी के लिये, और मकान आदि बनाने के लिये लगाई जाती है। दूसरा हिस्सा वह है जो पूँजीपति ज़मींदार को ज़मीन के इस्तेमाल के अधिकार के लिये देता है। अर्थशास्त्र लगान के इस दूसरे हिस्से पर ही विचार करता है।

मान लीजिये कि लगान जो दे रहा है वह पूँजीपति किसान है और अपनी किसानी के लिये मज़दूर रखता है, जिनके श्रम का वह शोषण करता है। यहाँ हम उन खेतों का विचार नहीं करते जहाँ कोई ज़मीन रेहन पर लेकर खुद जोतता बोता है अथवा कोई किसान ज़मीन खरीद लेता है और स्वयं ही ज़मींदार और पूँजीपति दोनों बन जाता है।

किन हालात में पूँजीपति ज़मींदार को लगान देने के लिए राज़ी हो (सकता है) जायगा? केवल उसी हालत में जबकि उसको ज़मीन पर आमदनी इतनी हो कि लगान देने के बाद भी औसत मुनाफा उसके लिये बचे। यदि उसको औसत मुनाफ़ा न मिले तो वह निःसन्देह ज़रायत से पूँजी हटाकर उद्योग धन्दों में उसका प्रयोग करेगा जहाँ उसको कम से कम औसत मुनाफ़ा मिले।

पूँजी का प्रयोगक्षेत्र ज़रायत से उद्योग-धन्दों में बदल जाने के कारण किसानी की उपज महँगी हो जायेंगी और यों उस पूँजी पर जो ज़मीन पर लगाई गई होगी औसत मुनाफा मिलने

लगेगा। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि औसत से अधिक मुनाफ़ा के रूप में ही लगान की कल्पना की जा सकती है। औसत से अधिक मुनाफ़ा की उत्पत्ति कैसे होती है?

Differential Rent

आन्तरिक लगान

उन्नत मशीन आदि के प्रयोग से वस्तु का दाम औसत उत्पादन के मूल्य से कम हो जाता है। जितना कम हो जाता है उतना ही अधिक मुनाफे का परिमाण है। निश्चय ही यहीं पर लगान का उद्गमस्थान है। एक उदाहरण से यह और स्पष्ट हो जायगा।

हर जगह ज़मीन बराबर ज़रखेज़ नहीं है। एक ज़मीन के तीन अलग अलग टुकड़ों को ले लीजिये। मान लीजिए कि हर टुकड़े पर पूँजी लगाई गई है २००) रु० की जिस पर औसत मुनाफा है २० फ़ी सदी यानी ४०) रु०। अब देखा जाय कि हर टुकड़े पर एक सेर अनाज का दाम क्या होगा? नीचे दिये गये नक्शा से इसका अंक मालूम हो जायगा।

किस्म	उत्पन्न अनाज का परिमाण	कुल पैदावार की क़ीमत	मुनाफा का औसत दर	कुल अनाज के पैदावार का मूल्य	फी सेर पैदावार की क़ीमत
१	२०० सेर	२००)	४०)	२४०)	$\frac{२४०}{२००}$ = १$\frac{१}{५}$)
२	१५० सेर	२००)	४०)	२४०)	$\frac{२४०}{१५०}$ = १$\frac{१}{५}$)
३	१०० सेर	२००)	४०)	२४०)	$\frac{२४०}{१००}$ = २$\frac{२}{५}$)
कुल	जो ४५० सेर	६००)	१२०)	७२०)	

यदि यह मान लिया जाय कि कृषि में भी उद्योग धन्धों की तरह उत्पादन के औसत मूल्य का निर्णय लागत दाम से ही होता है

तो इस क्षेत्र में पैदावार का मूल्य होगा $\frac{[illegible]}{[illegible]}$ रु० = १$\frac{१}{२}$ रु०। यह जाहिर है कि (१) के काश्तकार को फी सेर $\frac{१}{२}$ रु० मुनाफा होगा और (२) के काश्तकार को औसत मुनाफा मिलेगा। लेकिन (३) के काश्तकार का क्या हाल होगा! उद्योग धन्दों में तो यह सम्भव है कि पूँजीपति मशीनों की उन्नति के द्वारा औसत उत्पादन शक्ति को पहुँचे, लेकिन (१) और (३) के उत्पादन का अन्तर मशीनों के कारण नहीं है, इसका कारण है प्राकृतिक—जमीन का अधिक या कम उपजाऊ होना। अगर बाकी बातें बराबर हों तो समान पूँजी के प्रयोग से अधिक उपजाऊ भूमि में कम उपजाऊ भूमि से ज्यादह पैदावार होगा। इसलिये यदि औसत लागत दाम से ही अनाज का मूल्य निर्धारित हो तो (३) के काश्तकार को सदा के लिये ही औसत मुनाफे से कम पर सन्तोष करना हो और कोई पूँजीपति ऐसा करना नहीं चाहेगा। इसलिये (३) की जमीन परती पड़ी रहा करेगी। लेकिन ऐसा तभी सम्भव हो सकता है जब (१) और (२) के उपज से ही बाज़ार की माँग की पूर्ति हो सके। लेकिन जब माँग इससे बढ़ जायगी तो तीसरी भूमि भी काम में लानी पड़ेगी और अनाज का दाम हो जायगा (३) के समान यानी २$\frac{१}{२}$ रु०। अब तीसरी भूमि के काश्तकार को भी औसत मुनाफा मिलने लगेगा। इससे स्पष्ट है कि उद्योग धन्दों की तरह कृषि के उपज का मूल्य औसत लागत दाम से निर्धारित नहीं किया जाता। चूँकि जमीन के प्राकृतिक गुण क्षणिक नहीं बल्कि स्थायी हैं और मनुष्य के प्रभाव से मिट नहीं सकते (जैसे यांत्रिक उन्नति आदि के द्वारा मनुष्य उद्योग-धन्दों को प्रभावित करता है) और चूँकि अच्छी जमीन का रकबा सीमित है और इच्छानुसार इसकी वृद्धि नहीं हो सकती, कृषि के उपज का मूल्य उत्पादन के औसत दाम से लगाया

नहीं जा सकता बल्कि उस दाम से जो कि सबसे खराब ज़मीन पर पैदा करने में लगता है।

इसके फलस्वरूप ज्यादह ज़रखेज़ ज़मीन से कम ज़रखेज़ ज़मीनों के बनिस्बत कुछ अतिरिक्त आमदनी होगी। इस अतिरिक्त आमदनी का परिमाण इस पर निर्भर है कि सबसे खराब ज़मीन के उपज के दाम से उन ज़मीनों के उपज का दाम कितना कम है।

यह स्पष्ट है कि इन हालात में (१) और (२) के मालिक तभी अपनी ज़मीनों के इस्तेमाल की इजाज़त दे सकते हैं जब उनके काश्तकार अपनी अधिक आमदनी जिसकी उत्पत्ति का कारण उनकी ज़मीनों का ज्यादह उपजाऊपन है उनके मालिकों को दे देने के लिये तैयार हों। काश्तकार भी यह लगान देने को तभी तैयार होगा जब लगान देने के बाद भी वह औसत मुनाफ़ा कमा सके। इस प्रकार यह अतिरिक्त आमदनी ही लगान है। पिछले उदाहरण में (१) और (२) ज़मीन से ही लगान मिल सकता है। हाँ, यदि (१), (२) और (३) के सम्मिलित उपज से समाज की ज़रूरतें पूरी न पड़ें तो नई ज़मीन (४) भी काम में लानी पड़ेगी और तब (३) से भी लगान वसूल किया जावेगा।

ज़मीनों की भिन्न स्थिति के कारण भी लगान की वृद्धि हो सकती है। ज़रायत में, उद्योग धन्दों से कहीं ज्यादह, इस बात का असर होता है कि ज़मीन बाज़ार से कितनी दूरी पर है। इसका कारण यह है कि कच्चा माल या ज़रायती उपज का दाम इतना नहीं है जितना कि उन को एक जगह से दूसरी जगह ले जाने का दाम। अगर हम पिछले उदाहरण की तरह तीन अलग अलग ज़मीन के टुकड़ों को लें जिनकी दूरी बाज़ार से (१) से (२) की और (२) से (३) की ज्यादा हो तो पिछले

मिसाल की तरह (१) और (२) को अतिरिक्त आमदनी होगी और उन जमीनों पर लगान वसूल किया जावेगा।

इस आमदनी में फर्क का एक और भी कारण हो सकता है। इन ज़मीनों का उपज बढ़ाने के लिये मान लीजिये, पिछले उदाहरण की तीनों ज़मीनों पर समान पूँजी का प्रयोग होता है। लेकिन इन तीनों क्षेत्रों में अतिरिक्त उपज का परिमाण समान न हो। (१) से (२) में और (२) से (३) में इस अतिरिक्त उपज का परिमाण घटता जाता है। इस क्षेत्र में भी (१) और (२) की अधिक आमदनी होगी और उन जमीनों पर लगान वसूल किया जावेगा।

इन उदाहरणों से ऐसा मालूम होता होगा कि सर्वदा पहले ज्यादा ज़रखेज जमीन जोती बोई जाती है और फिर घटते घटते कम उपजाऊ जमीन पर हाथ लगाया जाता है। परन्तु वास्तव में कभी कभी इसके विपरीत भी होता है। इसका कारण यह है कि जंगलात होने के कारण अथवा बाजार दूर होने के कारण कम उपजाऊ जमीन ही पहले जोती बोई जाती है। इन्हीं कारणों से पूँजी का प्रयोग भी कम उपजाऊ ज़मीन पर हो सकता है। बहर हाल अलग अलग जमीनों की आमदनी भिन्न होने के कारण ही लगान की उत्पत्ति होती है।

लगान का उद्गम ऐसा प्रतीत हो सकता है कि लगान का उद्गम-स्थल है ज़मीन का उपजाऊ पन—जिसका सामाजिक श्रम से कोई नाता नहीं है। यह सही नहीं है। मनुष्य श्रम के बिना किसी ज़मीन से लगान की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यह हम देख चुके हैं कि ज्यादा ज़रखेज जमीन पर, या उस जमीन पर जिसकी स्थिति लाभदायक है या जिस पर पूँजी के प्रयोग से उपज की वृद्धि अधिक होती है, श्रम की उत्पादन शक्ति अधिक होती है और यही लगान का कारण होता

है। यहाँ पूँजीवादी कृषि की बात हो रही है। पूँजीवादी काश्तकार अपने हाथों खेत जोतता बोता नहीं है बल्कि इस काम के लिये मजदूरों को लगाता है। इसलिये लगान—जो औसत मुनाफ़ा से अतिरिक्त मुनाफा का दूसरा नाम है—की सृष्टि होती है अधिक उपजाऊ जमीन पर मजदूर की अधिक उत्पादन शक्ति से। दूसरे शब्दों में लगान मजदूर द्वारा सृष्टि अतिरिक्त अर्घ्य का एक हिस्सा है। अधिक उपजाऊ जमीन पर श्रम की उत्पादनशक्ति अधिक होने के कारण मजदूर द्वारा सृष्ट सम्बधित अतिरिक्त अर्घ्य काश्तकार के लिये अतिरिक्त मुनाफ़ा का उद्गम हो जाता है। काश्तकार औसत मुनाफ़ा अपने पास रखकर बाकी हिस्सा लगान के रूप में जमींदार को दे देता है।

विशुद्ध लगान

यह पहले ही कहा जा चुका है कि पूँजीपति यदि लगान न दे तो जमींदार पूँजीपति को अपनी जमीन नहीं देगा। यह भी, कि जमीन की काश्त कोई तभी करेगा जब जमींदार को लगान देने के बाद उसको औसत मुनाफा मिल सके। जमीन नं० (३) से कोई आंतरिक लगान नहीं वसूल हो सकता। लेकिन जमीन चाहे कितनी ही खराब क्यों न हो यह बिना लगान के किसी काश्तकार को जमीन न देगा चाहे उसको परती ही क्यों न डाल रखनी पड़े। दूसरी ओर काश्तकार भी जमींदार को अपनी औसत मुनाफा का साझीदार नहीं बनाना चाहता। इसके फलस्वरूप अनाज की पैदावार घट जायगा। यदि साथ ही साथ बाजार में अनाज की माँग भी घट न जाय तो अनाज का दाम बढ़ जायगा। दाम बढ़ता ही जायगा जब तक न कि खराब से खराब जमीन, जिस पर कोई आन्तरिक लगान नहीं मिल सकता, के काश्तकार को भी मुनाफा मिले और वह जमींदार को लगान दे सके।

अब हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि खराब से खराब जमीन

पर भी लगान देना पड़ता है। लेकिन इस लगान का कारण भिन्न भूमियों के विभिन्न उपजाऊपन के हेतु श्रम की उत्पादन-शक्ति की भिन्नता नहीं है बल्कि भूमि का सीमित होना और यह व्यक्तिगत सम्पत्ति होना ही है। जमीन का व्यक्तिगत सम्पत्ति होने और सीमित होने के कारण जो लगान दिया जाता है उसको मार्क्स ने निरपेक्ष लगान का नाम दिया है।

विशुद्ध लगान का उद्गम

जरायती पूँजी के आन्तरिक सगठन की कमी से इस लगान का विशेष सम्बन्ध है। उद्योग धन्दों की अपेक्षा खेतों में मशीनों का प्रयोग कम होता है, कारीगरी कम करनी पड़ती है, कच्चा माल कम लगता है और यह कम दाम का होता है। इस कारण, उद्योग धन्दों की अपेक्षा खेती में अस्थिर पूँजी का परिमाण अधिक होता है और इसमें लाभ का दर अर्थात् $\frac{\text{अ अ}}{\text{स्थि पू} + \text{अ पू}}$ अधिक होता है। कृषि में मजदूर जो अधिक अतिरिक्त अर्घ्य का उत्पादन करते हैं वही निरपेक्ष लगान का उद्गम है।

हम देख चुके हैं कि उद्योग के क्षेत्र में औसत पूँजी के मुकाबले उस पूँजी पर मुनाफा का दर अधिक नहीं हो सकता जिसका आन्तरिक सगठन कम है। क्या जरायत का अधिक मुनाफा पूँजीवादी उत्पादन के कुल शाखाओं में पूँजी के परिमाण के अनुपात में बँटने के लिये मुनाफा के कुल रकम में सम्मिलित हो जाता है?

उद्योग धन्दों से जरायत में पूँजी के प्रयोगक्षेत्र का परिवर्तन इतना सहज नहीं क्योंकि जमीन का परिमाण सीमित है और कुल जमीन जमींदार श्रेणी की व्यक्तिगत सम्पत्ति है। जरायत के अतिरिक्त मुनाफा को घटाने के लिये (उसमें हिस्सेदारों की

तादाद बढ़ाकर) पूँजी का मुक्त प्रवाह सम्भव पर न होने के कारण ज़मींदार इस अतिरिक्त मुनाफ़ा को निरपेक्ष लगान के रूप में हड़प लेता है।

ख़राब से ख़राब ज़मीन पर निरपेक्ष लगान वसूल किया जाता है। लेकिन अच्छी ज़मीन पर भी आन्तरिक लगान के साथ साथ निरपेक्ष लगान भी वसूल किया जाता है।

अच्छी ज़मीन पर आन्तरिक लगान वसूल होने के कारण इसका मालिक अपने पैदावार को उस दाम से कम पर नहीं बेचता जिस पर ख़राब ज़मीन का पैदावार बिकता है। हर ज़मीन का पैदावार ख़राब से ख़राब ज़मीन के पैदावार के दाम बिकता है और यह दाम ही बाज़ारभाव है जिसमें निरपेक्ष लगान सम्मिलित है। इससे यह स्पष्ट है कि अच्छी ज़मीन पर आन्तरिक लगान के साथ निरपेक्ष लगान भी वसूल होता है।

खेतों के अलावा भी और ज़मीनें हैं जिन पर उद्योग धंधे, व्यापारिक केन्द्र और इमारतें आदि अवस्थित हैं और जिनके गर्भ में सोना, कोयला, तेल आदि खनिज पदार्थ हैं। इन ज़मीनों के मालिकों को ज़रायती ज़मीन के मालिकों के मुक़ाबले कहीं अधिक लगान मिलता है।

लगान और ज़रायती पैदावार के मूल्य

पूर्वोक्त भाग से यह सिद्ध है कि ज़रायती पैदावार के मूल्य के तीन भाग हैं—सबसे ख़राब ज़मीन पर पैदावार का लागत दाम, औसत मुनाफ़ा और निरपेक्ष लगान। माँग और पूर्ति के प्रभाव में इन्हीं तीनों के आस पास के इर्द गिर्द ज़रायती पैदावार के दाम चढ़ते गिरते रहते हैं।

लेनिन के शब्दों में "ज़मीन का व्यक्तिगत सम्पत्ति होना निरपेक्ष लगान का कारण है। इसमें एकाधिकार का एक अंग

है—एकाधिकार मूल्य का यह जनक है। भूमि सम्पत्ति का वैयक्तिकरण मुक्त प्रतियोगिता में बाधक होता है, और जरायती तथा और जरायती पैदावार-जनित मुनाफ़ा का एक सम्मिलित औसत मुनाफ़ा का रूप ग्रहण करने से रोकता है। इसके अलावा उद्योग के मुकाबले जरायत का कला कौशल नीचे दर्जे का है और पूँजी के संगठन में स्थिर पूँजी के मुकाबले अस्थिर पूँजी का भाग अधिक है। इस कारण जरायती पैदावार का मूल्य सब पैदावारों के औसत मूल्य से अधिक है। भूमि सम्पत्ति का वैयक्तिकरण जरायती केन्द्रों के मुनाफ़ों की बराबरी को रोकते हुए इस बात की सम्भावना की सृष्टि करता है कि चीज़ें न केवल अधिक से अधिक उत्पादन मूल्य पर बल्कि वस्तु विशेष के निजी मूल्य पर बिकें।"

यदि पूँजीवाद के अस्तित्व काल में ही भूमि सम्पत्ति का वैयक्तिकरण मिटा दिया जाय तो निरपेक्ष लगान का अन्तर्धान हो जायगा और जरायती पैदावार का उत्पादन मूल्य होगा लागत दाम और औसत मुनाफ़ा का जोड़। निरपेक्ष लगान ही के कारण जरायती पैदावार का दाम अधिक चढ़ा होता है।

आन्तरिक लगान का जरायती पैदावार के मूल्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। क्योंकि —

(१) सबसे खराब ज़मीन पर पैदावार के लागत दाम से ही मूल्य का निराकरण होता है, और—

(२) इस ज़मीन से आन्तरिक लगान वसूल नहीं होता।

भूमि का मूल्य पूँजीवादी बाजार में ज़मीन बहुत जल्दी बिक जाता है क्योंकि—

(१) लगान के रूप में इससे एक बँधी आमदनी मिलती है।

(२) उद्योग धन्दा व्यापार आदि के लिये भी इसकी जरूरत है।

(३) जरायती उत्पादन के लिये इसकी आवश्यकता है। तथा (४) भूमि सम्पत्ति से बहुत से अधिकार प्राप्त होते हैं जैसे वोट आदि । इसके मूल्य का निर्णय कैसे किया जाता है ?

इसके उत्पादन में कोई श्रम का व्यय नहीं होता। यह प्रकृति का देन है। यह और वस्तुओं से भिन्न है और अर्थ के बिना पर इसके मूल्य का निर्णय नहीं हो सकता । भूमि में जमींदार का सबसे बड़ा स्वार्थ यह है कि इसके अधिकार से बिना श्रम के उसको लगान मिलता जाता है । जमीन बेचते समय वह इसका मूल्य इस बुनियाद पर लगायेगा कि इससे लगान के रूप में उसको कितनी आमदनी होती है ! मान लीजिये कि लगान सालाना ५००) रुपया है। वह यह उम्मीद रखता है कि जमीन की बिक्री के बाद उसकी यह आमदनी क़ायम रहेगी। यह सम्भव है कि जमीन बेचने के बाद वह बिक्री के रुपये बैंक में डाल दे और इस पर उसको सालाना सूद मिले ५००) रु० । यदि सूद का दर ५ फीसदी हो तो ५००) रु० सालाना सूद के लिये पूँजी चाहिये १०,०००) रु० की।

इस प्रकार जमीन का मूल्य लगान की परिणत पूँजी है अर्थात् लगान धन पूँजी के रूप में परिवर्तित हो जाता है जिससे सूद के रूप में अतिरिक्त अर्थ का उत्पादन होता रहता है। यह क़ीमत किसी वास्तविक अर्थ के बदले नहीं दी जाती क्योंकि ज़मीन का निजस्व कोई अर्थ नहीं है लेकिन इस लिये कि भविष्य में इसके आधार पर आमदनी का एक ज़रिया हो जाता है।

जमीन का मूल्य निर्भर करता है दो बातों पर—एक तो बैंक रुपया जमा करनेवाले को किस दर से सूद देता है, और दूसरी यह कि उस ज़मीन पर लगान कितना मिलता है। यदि ज़मीन का मूल्य है 'अ' तो यह स्पष्ट है अ×फीसदी सूद का दर =

लगान। अथवा $अ \times \frac{स}{१००} = ल$ या नी $अ = ल \times \frac{१००}{स}$। जहाँ 'स' है सूद का दर और ल है लगान। लगान जितना अधिक होगा और सूद का दर जितना कम होगा ज़मीन का मूल्य उतना अधिक होगा। इसका विपरीत भी उतना ही सही है।

पूँजीवाद के विकास के साथ लगान में वृद्धि का झुकाव

पूँजीवाद में लगान का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। पूँजीवाद के विकास के साथ उद्योग धन्धों में मजदूरों की तादाद बढ़ जाती है और ज़रायती पैदावार का बाज़ार बढ़ जाता है। ज़मीन जब तक सब व्यक्तिगत सम्पत्ति रहती है ज़रायती पैदावार की बढ़ती हुई माँग से उनका दाम बढ़ जाता है जिसके कारण हर रूप में ज़मीन के लगान का दर बढ़ जाता है। आन्तरिक लगान इसलिये बढ़ जाता है कि जो ज़मीन पहले जोती कोई नहीं जाती थी वह अब जोती जाने लगती है। बढ़ती हुई पूँजीवाद का ज़रायती पैदावार की माँग अधिक होने के कारण इनका दाम बढ़ जाता है और इसके कारण विश्व के तिजारत में दूर दूर के देश और ज़िले दाखिल हो जाते हैं और उनके पैदावार का दूर बाज़ारों में भेजना भी लाभदायक होता है।

पूँजी के प्रयोग से भिन्न भिन्न ज़मीनों की उत्पादन शक्ति में जो अधिक या कम वृद्धि होती है उससे भी आन्तरिक लगान की सृष्टि होती है। कृषि कला की उन्नति के साथ इन उत्पादन शक्तियों का अन्तर और बढ़ जाता है। ज़रायती पैदावार की माँग में वृद्धि, उनका बढ़ता हुआ मूल्य और भूमि का सीमित परिमाण के हेतु भूमि की उत्पादन शक्ति को बढ़ाने के लिये अधिकाधिक पूँजी के प्रयोग की आवश्यकता हो जाती है।

जहाँ तक निरपेक्ष लगान का सम्बन्ध है इसका उद्गम है

भू सम्पत्ति की वैयक्तिकता तथा ज़रायती पूँजी के आन्तरिक सग ठन का कम होना। औद्योगिक कला न केवल कृषिकला के साथ कदम मिला कर चलती है बल्कि उससे कहीं आगे बढ़ जाता है और इस कारण उद्योग और कृषि की पूँजी के आन्तरिक सगठनों का अन्तर घटता नहीं बल्कि बढ़ता जाता है जिसके परिणामस्वरूप निरपेक्ष लगान का निरन्तर वृद्धि होती जाती है।

इस प्रकार पूँजीवाद के विकास के साथ हर रूप में लगान की वृद्धि होता रहती है और इसका फल यह होता है कि पूँजीवादी समाज में ज़मींदार श्रेणी के पावना का हिस्सा बढ़ जाता है और सारे समाज के ऊपर इस श्रेणी का भार बढ़ता जाता है।

समाज के लिये लगान का अर्थ

पहले समाज के उस हिस्से को लीजिये जो पूँजीवादी काश्तकार है। उसको अतिरिक्त अर्घ्य का एक हिस्सा ज़मींदार को दे देना पड़ता है। यदि वह अपने को इससे मुक्त करना चाहे ज़मीन खरीदकर तो उसको इसमें बहुत पूँजी लगानी पड़ेगी जिसका प्रयोग ज़रायती पैदावार के सिलसिले में नहीं होगा और कृषि की उत्पादन प्रथा से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। ज़मीन से कृषिकार्य करके लाभ उठाने के लिये अलग पूँजी की ज़रूरत है।

इस प्रकार पूँजीवादी उत्पादन प्रथा के लिये लगान दोहरा शत्रु है, एक तो इसलिये कि पूँजीपतियों में बाँटने के लिये कुल अतिरिक्त अर्घ्य का परिमाण घट जाता है और दूसरा इसलिये कि उस पूँजी का ह्रास हो जाता है जिसका प्रयोग ज़रायती पैदावार के लिये हो सकता था और जिससे अतिरिक्त अर्घ्य की सृष्टि होती।

इससे भी अधिक भूमि का वैयक्तिक सम्पत्ति होना कृषि की उत्पादन शक्ति के विकास में बाधक है। कैसे? पूँजीपति काश्त

कार का स्वार्थ इतना ही है कि कृषि की उन्नति इस प्रकार से करे और पूँजी इस प्रकार से लगाये कि उसी का इसका लाभ मिल सके नहीं तो उसके रेहन का समय बीत जायगा और उसने जो कुछ उन्नति की है उसका लाभ उसको नहीं बल्कि जमींदार को होगा जो लगान भी बढा सकता है। इसलिये भूमि के व्यक्तिगत सम्पत्ति होने के कारण उसकी उन्नति में बाधा पडता है।

फिर, अधिक लाभ का लाभ ही पूँजीपति को लगातार उन्नति के मार्ग पर ले जाता है लेकिन जरायत में सारा अधिक लाभ जमींदार को दे देना पडता है इसलिये उसकी उन्नति की प्रवृत्ति हो नहीं रह जाती।

भूमि सम्पत्ति की वैयक्तिकता से मजदूरों को और भी हानि होती है। निरपेक्ष लगान की लगातार वृद्धि से जरायती पैदावारों के मूल्य में वृद्धि होती है। मजदूर श्रेणी के ऊपर यह बोझा जैसा पड़ता है। मजदूरों के जीवन धारण की सामग्रियों के मूल्य में वृद्धि होने के कारण श्रम शक्ति के श्रघ्य में वृद्धि होनी चाहिये जिसके फलस्वरूप मजदूरी बढ़नी चाहिये। लेकिन श्रम शक्ति सब समय अपने अर्घ्य पर नहीं बिकता। यह अवश्य है कि मजदूर अपनी सम्मिलित शक्ति और संघर्ष के द्वारा मजदूरी में कुछ वृद्धि करवा लेता है लेकिन साधारण तौर पर चीजों का दाम जितना बढ़ता है मजदूरी उस अनुपात में नहीं बढ़ती और इस दशा में जमींदार का लगान अतिरिक्त अर्घ्य से ही नहीं बल्कि मजदूरी के अंश से भी दिया जाता है।

छोटे काश्तकारों का शोषण इससे भी अधिक होता है जो लगान की सीमा पार कर जाता है। छोटा काश्तकार तो मुनाफा भी नहीं चाहता। वह तो अपनी मजदूरी का भी एक अंश देकर लगान पर जमीन लेने को तैयार है। इस कारण,

लगान के रूप में काश्तकारों का आवश्यक सामग्रियों का एक अंश भी जमींदार उनसे ले लेता है।

भूमि का राष्ट्रीयकरण और लगान

भूमि का व्यक्तिगत सम्पत्ति होना पूँजीपतियों के लिये नुकसानदेह है और इसलिये वे भूमि के राष्ट्रीयकरण के भिन्न भिन्न मसविदे पेश करते हैं। इनका सार यही है कि भूमि-सम्पत्ति राष्ट्र के हाथ होनी चाहिये। पूँजीवादी समाज में भूमि का राष्ट्रीयकरण आन्तरिक लगान का अन्त नहीं करता है केवल इसे पूँजीवादी राष्ट्र के हाथ सौंपता है और राष्ट्र ठीक जमींदार की तरह काश्तकार पूँजीपति और किसानों को जमीन लगान पर देता है। इसका कारण यह है कि आन्तरिक लगान की बुनियाद है पूँजीवादी सम्बन्धों का अस्तित्व और भिन्न भूमियों में श्रम की उत्पादन शक्तियों में अन्तर, जो जमीन का उपजाऊपन और उसकी स्थिति आदि पर निर्भर है। ये चीजें प्राकृतिक कारणों से होती हैं और राष्ट्रीयकरण से इनको मेटा नहीं जा सकता। व्यक्तिगत सम्पत्ति के विनाश से कृषि का पूँजीवादी विकास सुगम हो जाता है। परन्तु अच्छी जमीन का परिमाण सीमित होने के कारण सबसे खराब जमीन पर पैदावार के लागत के हिसाब पर जगायती पैदावार के मूल्य का निर्णय होता है और अच्छी जमीन पर औसत से अधिक मुनाफा होता है।

लेकिन निरपेक्ष लगान का जिसकी उत्पत्ति भूमि के व्यक्तिगत सम्पत्ति होने के और पूँजी के आन्तरिक संगठन की कमी के कारण होती है हाल दूसरा होता है। वर्धित अतिरिक्त मूल्य को जमींदार स्वयं हड़प लेता है और यह पूँजीपतियों में बँट नहीं पाता। भूमि का राष्ट्रीयकरण जरायती पूँजी के आन्तरिक संगठन को बढाता है और मुनाफ़ा को सारे पूँजीपति वर्ग

में बाँट देता है। भूमि के राष्ट्रीयकरण से यानी जमीन में व्यक्तिगत सम्पत्ति के विनाश से पूँजीवाद का और भी विकास होता है क्योंकि—

(१) जो पूँजी जमीन खरीदने में लग जाता है उसको उत्पादन की वृद्धि के लिये लगाया जा सकता है।

(२) किसान को अब निरपेक्ष लगान नहीं देना पड़ता है।

(३) उपजाऊ पैदावार का मूल्य घट जाता है और इस प्रकार मजदूर मुखामियों को कर देने से मुक्त हो जाता है।

(४) और इससे मुखामियों द्वारा किसानों का पैशाचिक पूर्व युग के शोषण का अन्त होता है।

यद्यपि पूँजीपतियों को भूमि के राष्ट्रीयकरण से लाभ है तथापि इसके लिये वे चेष्टित नहीं हैं क्योंकि बहुतेरे पूँजीपतियों ने जमीन खरीद लिया है और वे डरते हैं कि भूमि में व्यक्तिगत सम्पत्ति के विनाश से व्यक्तिगत सम्पत्ति की सारी बुनियाद ही हिल जायगी और पूँजीवाद का भीत (भित्ति) गिर जायगी।

शोषण का पात्र नहीं बन सकता। पूँजीपति को शोषण के लिये ठीक ऐसा ही मज़दूर चाहिए जिसके पास न ज़मीन है न उत्पादन के साधन और जो अपनी श्रम शक्ति खुले बाज़ार में बेचे। तीसरा अन्तर यह है कि सामन्तशाही में किसान का व्यक्तिगत रूप से सामन्त प्रभु के अधीन होना ज़रूरी है, नहीं तो वह यदि अपनी ज़मीन का मालिक हो तो वह बिना बरबस के अपने प्रभु के लिये काम नहीं करेगा। इस अर्थनैतिक प्रथा से गैर अर्थनैतिक दबाव की सृष्टि होती है—जैसे गुलामी, क़ानूनी अधीनता, तथा असमता इत्यादि और दूसरी ओर, पूँजीवाद (आदर्श) खुले बाजार में पूँजीपति और मज़दूर के बीच सौदा करने की पूरी आजादी देता है।'

गुलामी से प्राप्त सामन्त प्रभु की आमदनी को पूँजीवादी अर्थ में लगान नहीं कहा जा सकता।

पूँजीवादी लगान वह अतिरिक्त अर्घ्य है जो काश्तकार पूँजीपति को औसत मुनाफा के अतिरिक्त मिलता है और जिसको उसे दे देना पड़ता है ज़मींदार को, इस अधिकार के लिये कि उसकी ज़मीन का वह इस्तेमाल कर सके। इसमें तीन श्रेणियों का आपसी सम्बन्ध है—(१) ज़मींदार, (२) पूँजीपति काश्तकार तथा (३) मज़दूर।

पूँजीवाद पूर्व लगान पूँजीवादी लगान की तरह कृषि मज़दूर के शोषण से प्राप्त आमदनी का एक अंश मात्र नहीं है बल्कि पूरी ही आमदनी है। लगान के रूप में सामन्तप्रभु दास के अतिरिक्त श्रम को पूरा पूरा हड़प लेता है। इसका सम्बन्ध दो श्रेणियों के अस्तित्व से है—(१) ज़मींदार वर्ग जो काश्तकार के अतिरिक्त पैदावार को हड़पता है और (२) किसान, जिनके निज के मकानात और उत्पादन के साधन हैं जिसके कारण शोषण का रूप श्रम शक्ति का बेरोक टोक

खरीद बिक्री नहीं [redacted] सकता बल्कि इसका रूप और खुला होता है। इस देश में आवश्यक और अतिरिक्त श्रम का विभेद बहुत स्पष्ट है परन्तु पूँजीवाद में उत्पादन सम्बन्ध गुप्त रहता है।

पूँजीवाद के पूर्व युग क लगान के विकास का मार्क्स ने तीन स्तर बताया है—लगान श्रम के रूप में, जिन्स के रूप में तथा रुपयों म। जब लगान जिन्स में न देकर रुपयों में दिया जाता है तो इसका अर्थ यह है कि न केवल अतिरिक्त पैदावार का उत्पादन होता है बल्कि बाजार में इसकी बिक्री होती है। यह तभी सम्भव है जब विनिमय-सम्बन्ध का विकास हो। रुपयों में लगान देना यह जाहिर करता है कि पूँजीवाद के पूर्व युग के लगान की अन्त्येष्टि क्रिया हो रही है। इसके उपरान्त विकास से पूँजीवादी कृषि और पूँजीवादी लगान की सृष्टि होती है अथवा छोटे पैमाने पर किसानी होती है जो सामन्तवादी शृंखला से मुक्त होती है और जिसकी बुनियाद होती है जमीन में व्यक्तिगत सम्पत्ति।

छोटे पैमाने की किसानी और आन्तरिक लगान

पूँजीवाद छोटे किसानों को तबाह कर देता है। यद्यपि इसमें से थोड़े धनी किसान भी हो जाते हैं जो बाद में मध्यम श्रेणी के या बड़े पूँजीपति बन जाते हैं तथापि अधिकांश सर्वहारा दल में परिणत हो जाता है। लेकिन उद्योग की तरह यह ध्वंस लीला बहुत दूर तक नहीं जाती और पूँजीवादी मुल्कों में अब भी छोटी किसानी महत्त्व का है।

छोटी किसानी सामन्तशाही से भिन्न है क्योंकि किसान जमीन का तथा उत्पादन के साधनों का मालिक होता है। क्या इन किसानों को आन्तरिक लगान मिल सकता है? जहाँ तक भिन्न भूमियों के उपजाऊपन या उनकी स्थिति जमीन के प्राकृ

तिक गुणों के ऊपर निर्भर है उस छोटे किसान का जिसकी ज़मीन ज़रखेज़ होगी या किसकी ज़मीन की स्थिति अच्छी होगी, अतिरिक्त पैदावार प्राप्त होगा।

लेकिन पूँजीवादी काश्तकार और छोटे किसान में अन्तर यह है कि वह अपने परिवारसहित स्वयं मेहनत करता है और ज़मीन के उपजाऊपन के कारण उत्पन्न अतिरिक्त पैदावार उसका निज का होता है। इस क्षेत्र में कोई ज़मींदार नहीं होता जिसको वह लगान दे और न तो कोई मज़दूर रखता है जिसके द्वारा उत्पन्न अतिरिक्त अर्घ्य का वह ज़मींदार के साझे में बाँट लेता हो। इसलिये पूँजीवादी आवेष्ठन के बिना छोटी किसानी में आन्तरिक लगान की सृष्टि नहीं हो सकती।

आन्तरिक लगान के सिलसिले में यह देखना चाहिये कि पूँजीवादी लगान का छोटे किसान पर क्या असर पड़ता है। मार्क्स के शब्दों में—

"पूँजीवादी प्रतियोगिता के बिना पर अर्घ्य को तीन हिस्सों में बाँटा जाता है—मज़दूरी, लगान, व मुनाफ़ा। इस तरीक़े का प्रयोग उन क्षेत्रों में भी किया जाता है जहाँ अर्घ्य को इस प्रकार बाँटने की अवस्थाएँ मौजूद नहीं हैं। दूसरे शब्दों में, तुलनात्मक रूप से हर क्षेत्र में इस प्रकार के विभाग किये जाते हैं। यदि कोई छोटा किसान जिसके लिये अर्घ्य के ये तीनों विभाग लागू हैं अपने ही लिये काम करता है तथा अपना ही पैदावार बेचता है, वह पहले स्थान में अपने को पूँजीपति की नाईं नियुक्त करता है एक मज़दूर की भाँति और अपने ज़मींदार की तरह निज को नियुक्त करता है एक किसान की भाँति। मज़दूर की हैसियत में वह अपने को मज़दूरी देता है और पूँजीपति की हैसियत में मुनाफ़ा तथा ज़मींदार की हैसियत में लगान। पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली को मानकर और इस प्रणाली में प्रचलित

अवस्थाओं में यह धारणा सही है— इस अर्थ में कि उसका मुनाफ़ा अपने श्रम के कारण नहीं मिलता बल्कि इसलिये कि वह उत्पादन के साधन का मालिक है। अपना अतिरिक्त श्रम उसको ही प्राप्त होता है। इस प्राप्ति का परिमाण इस पर निर्भर नहीं है कि इस श्रम द्वारा उत्पन्न पैदावार का परिमाण कितना है बल्कि इस पर कि औसत मुनाफ़ा का दर क्या है। इसी प्रकार अतिरिक्त अर्घ्य से अधिक भाग जिसका औसत मुनाफ़ा से सम्बन्ध है उसको इसलिये मिलता है कि वह ज़मीन का मालिक है। चूंकि इस प्रकार पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली न होते हुए भी अर्घ्य का इस प्रकार विभाग किया जा सकता है, यह भ्रम हो जाता है कि प्रकृति में एक ही प्रकार की उत्पादन प्रणाली है और वह है पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली।

इस प्रकार एक सीमित अर्थ में और कुछ शर्तों के साथ छोटे किसानों में आन्तरिक लगान की उत्पत्ति होती है। यह सम्भव इसलिये है कि छोटा किसान अपनी ज़मीन का मालिक है और उसके उत्पादन का साधन एक प्रकार का पूँजी है और उसके द्वारा उत्पन्न पैदावार की बिक्री पूँजीवादी बाज़ार में होती है।

निरपेक्ष लगान और छोटे किसान

एक अर्थ में पूँजीवादी आवेष्टन में भी निरपेक्ष लगान नहीं होता यद्यपि आन्तरिक लगान होता है। मार्क्स के शब्दों में—छोटे किसान के शोषण की मात्रा, यदि वह छोटा पूँजीपति है, इस बात से सीमित नहीं होती कि उसको औसत मुनाफ़ा मिलना चाहिए, और न इस बात से कि उसको लगान का रकम मिलनी चाहिये, यदि वह ज़मींदार है। छोटे पूँजीपति की हैसियत से वह तब तक सन्तोष करेगा जब तक सारा खर्च निकालकर उसको मजदूरी की रकम मिलती रहे। जब तक उसका

इस तरह की मज़दूरी मिलती रहे यहाँ तक कि जब तक उसको प्राप्त मज़दूरी से केवल मात्र किसी प्रकार से जीवन धारण होता हो तब तक वह ज़मीन जोतता बोता रहेगा। अधिक से अधिक वह अपने पैदावार को बेचकर अपनी श्रम शक्ति का पूरा अर्घ्य चाहता है, इस बात पर वह उतारू नहीं है कि उत्पन्न वस्तु का पूरा अर्घ्य या पैदावार का मूल्य उसको मिले।

इसके माने यह नहीं है कि छोटे किसान द्वारा उत्पन्न पैदावार ग्राहकों को सस्ता मिल जायगा। होता यह है कि बीच के लोग—धनी किसान और व्यापारी आदि—उनके पैदावार को खरीद लेता है और बाज़ार भाव पर बेचता है। छोटे किसान के अतिरिक्त श्रम का एक हिस्सा टैक्स आदि में चला जाता है।

माँग और पूर्ति का नियम यदि छोटे किसान के लिये अनुकूल है तो उसके अतिरिक्त पैदावार का अंश निम्नतम सीमा से कुछ उठ सकता है और औसत मुनाफा तक पहुँच सकता है यहाँ तक कि निरपेक्ष लगान की सीमा तक पहुँच सकता है। परन्तु पूँजीवादी अवस्था में हज़ारों करोड़ों किसानों के लिये यही सत्य है कि उसके अतिरिक्त पैदावार का अंश उसकी मज़दूरी से अधिक न होगा।

बारहवाँ अध्याय

पूँजी का एकत्रीकरण और पूँजीवादी सम्बन्धो का पुनरुत्पादन

पूँजी का प्राथमिक एकत्रीकरण

हमें पहिले निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर देना पड़ेगा। (१) पूँजीवाद-पूर्व सम्बन्धों से पूँजीवादी प्रथा की उत्पत्ति कैसे हुई?

(२) पूँजीवादी प्रथा का विकास किस ओर है? पहला प्रश्न ले लीजिये।

सामन्तवादी समाज की टूटती हुई भीत पर और साधारण वस्तु उत्पादन प्रथा से पूँजीवाद की उत्पत्ति होती है। एक नये प्रकार के सम्बन्धों के विकास के लिये आवश्यक अवस्थाओं की सृष्टि उस युग में होती है जिसको पूँजी के एकत्रीकरण का प्रारम्भ युग कह सकते हैं। एक ओर तो इससे मुट्ठीभर पूँजी-

पतियों के हाथ उत्पादन के साधनों का केन्द्रीकरण होता है और दूसरी ओर दासों को मुक्ति मिल जाती है और कारीगर अपने उत्पादन के साधनों से वञ्चित हो जाते हैं और इस प्रकार दोनों सवहारा के दल में सम्मिलित हो जाते हैं।

सामन्तवाद या जागीर प्रथा का अवसान एक दुखद प्रक्रिया थी। जागीर प्रथा मुख्य तौर पर एक स्वावलम्बित (ग्राम निर्भर) प्रथा थी। सामन्तप्रभु अपने दलबल सहित सामन्तराष्ट्र में उत्पन्न वस्तुओं पर जीवन धारण करता था। विनिमय का असर अवश्यक वस्तुओं पर न था केवल विलासिता की सामग्रियों पर था जिनकी माँग होती थी साम न्तप्रभुओं को। जब तक जागीरदारी प्रथा के अन्दर विनिमय सम्बन्ध साधारण रूप से प्रचलित नहीं हो गया था और जब तक उत्पादन का उद्देश्य विनिमय अर्घ्य नहीं बल्कि व्यवहार अर्घ्य था तब तक किसानों का शोषण एक संकीर्ण सीमा के अन्दर था। मार्क्स ने कहा है कि जब कभी समाज की पहली अवस्था में अतिरिक्त अर्घ्य की सृष्टि होती है तो श्रम असह्य होता है। अतिरिक्त श्रम का रूप होता है वह श्रम जो श्रमिक के शरीर का क्षीण कर देता है। मनुष्य और मनुष्य के बीच नाता होता है स्वार्थ का और नक़द देना पावना का। श्रम का लगान और चीज़ वस्तुओं का लगान दोनों अवस्थाओं को पार कर रुपये पैसे में लगान दिया जाने लगता है। सामन्तप्रभुओं के लिये नौकर चाकरों का झुण्ड और बड़ी बड़ी सेना रखना बहुत महँगा पड़ता है और अनावश्यक भी हो जाता है और इसलिये इसका अन्त होना ही पड़ता है।

दूसरी ओर घरेलू उद्योग धन्धों की अवनति होने लगती है। धनी कारीगरों ने काफी तादाद में सहकारी रक्खे। उनके बीच विरोध बना। धनी कारीगर श्रेणी रूप में सगठित हो गये।

बाज़ार की वृद्धि के और विनिमय-सम्बन्ध के विकास के साथ घरेलू उद्योग धन्धों में तिजारती पूँजी का प्रवेश होता है और सहकारीवर्ग धनी कारीगरों का अधीनस्थ हो जाता है। व्यापारियों के लिये विनिमय सम्बन्धों को विस्तार करने की आवश्यकता होती है, और बाज़ारों की परिधि इतना बढ़ जाता है कि चीज़ बनानेवाले और खरीदनेवाले के बीच सीधा सम्बन्ध क़ायम नहीं रह सकता। बढ़ती हुई बाज़ार की माँग को घरेलू उद्योग धन्धा पूरा नहीं कर सकते। घरेलू उद्योग धन्धों में व्यापारियों का दख़ल बढ़ता जाता है। कारीगरों का शोषण भी बढ़ता है, बहुतेरे बरबाद हो जाते हैं और सबहाराओं की श्रेणीमुक्त हो जाते हैं।

पूँजी के एकत्रीकरण के आरम्भ के मूल में है उत्पादक का उत्पादन सम्बन्धों से विच्छेद।

इस विकास की क्रिया से श्रम शक्ति नामक वस्तुओं की उत्पत्ति होती है। इसी क्रिया के कारण धीरे धीरे बड़े औद्योगिक पूँजीपति पैदा होते हैं। उत्पादन के साधन बर्बाद हुए कारीगरों के हाथ से छिनकर व्यापारिक पूँजीपतियों के हाथ इकट्ठा होने लगते हैं। कारीगरों के शोषण से पूँजीपति को प्रचूर मुनाफ़ा मिलता है। इसमें जोड़िये उपनिवेशों के साथ व्यापार जो क़रीब करीब उपनिवेशों का लूट ही होता है और दासों का व्यापार इत्यादि। उत्पादक और मालिक दोनों के शोषण से व्यापारिक पूँजीपति के हाथ बहुत सा धन इकट्ठा हो जाता है और इस प्रकार बड़े पैमाने पर उत्पादन की बुनियाद पड़ जाती है।

पुनरुत्पादन

अब दूसरे प्रश्न को ले लीजिये—पूँजीवादी उत्पादन का ह्रास किस प्रकार होता है और यह किस ओर जा रहा है।

तमाम वे पैदावार जिनसे मनुष्य जाति की विभिन्न ज़रूरियात पूरी होती हैं मनुष्य श्रम की ही सृष्टि हैं।

चूँकि उत्पन्न वस्तु हमारी जरूरियात को थोड़े ही समय के लिये पूरा कर सकता है जिसके बाद फिर दूसरे वस्तुओं की जरूरत होती है इसलिये समाज के लिये जिन वस्तुओं की जरूरत है उनकी पूर्ति के लिये आवश्यक शर्त है उत्पादन क्रिया का बारम्बार दोहराना तथा नये सिरे से काम चालू रखना।

लेकिन उत्पादन क्रिया मनुष्यकृत उत्पादन के यन्त्रों द्वारा होता है। इसलिये यह स्पष्ट है कि समाज की जरूरियात को पूरा करने के लिये न केवल उन वस्तुओं का ज़रूरत होती है जिनसे ये जरूरियात पूरी हो सकती हैं बल्कि सामाजिक श्रम का एक भाग इसलिये नियोजित करना पड़ता है कि नियमित रूप से उन औज़ारों को भी पैदा किया जा सके, जिनसे इन वस्तुओं का उत्पादन होता है। उत्पादन क्रिया के दोहराने और नये सिरे से चालू करने का ही नाम पूँजीवादी समाज में पुनरुत्पादन है।

यह पुनरुत्पादन होता है सीधा, बढ़ता हुआ, या घटता हुआ।

सीधा पुनरुत्पादन उस क्षेत्र में होता है जहाँ हर साल पुनरुत्पादन की क्रिया उसी सतह पर रहती है। यान्त्रिक उन्नति जहाँ कम है वहीं ऐसा होता है, उदाहरण के लिये आरम्भकाल के देहाती पञ्चायतों और घरेलू उद्योग धन्धों आदि में। पिछड़े हुए आर्थिक संगठन का रूप ही है कि जहाँ आर्थिक उन्नति न होती हो, उत्पादन की क्रिया में वही पुरानी परम्परा चली आती हो, जहाँ हर नवीनता का विरोध होता हो और जहाँ रूढ़िवाद की प्रधानता हो, सीधे पुनरुत्पादन में उन्नति और विकास की गुंजाइश नहीं है।

बढ़ता हुआ पुनरुत्पादन वहाँ होता है जहाँ पैदावार बढ़ता हुआ पैमाने पर होता है। यह उन आर्थिक संगठनों का रूप है जहाँ उत्पादक शक्तियों का तेज़ी से विकास हो रहा हो। उन्नति और विकास का यही रूप है।

घटता हुआ पुनरुत्पादन वहाँ होता है जहाँ उत्पादन की क्रिया इस प्रकार अपने को दुहराती है कि पैदावार घटते हुए पैमाने पर होता है। इस प्रक्रिया के जारी रहने से उस समाज की अवनति अवश्यम्भावी है जैसे यूनान, रोम आदि में हुआ।

उत्पादन क्रिया के सिलसिले में मनुष्यों के बीच कुछ उत्पादन सम्बन्धों की भी सृष्टि होती है। इसलिये वस्तुओं के साथ इन सम्बन्धों का भी पुनरुत्पादन होता रहता है।

उत्पादन की क्रिया के सिलसिले में मनुष्यों के बीच जो सम्बन्ध स्थापित होते हैं उनसे पैदावार का बटवारा इस प्रकार होता है कि भविष्य में भी शासकवर्ग की स्वायत्ता होती है और उनका स्थान बतौर शासक के सुरक्षित रहता है तथा शोषित वर्ग अपने अधीनस्थ स्थान पर ही कायम रहता है। किसी विशिष्ट समाज में उत्पादन सम्बन्ध के पुनरुत्पादन का यही मर्म है और जब तक कोई नया समाज प्रथा इसकी जगह नहीं लेती यही व्यवस्था चलती रहती है। नवनिर्मित समाज में भी पुनरुत्पादन क्रिया के साथ उत्पादन सम्बन्धों का भी पुनरुत्पादन होता रहता है।

सीधा पूँजीवादी पुनरुत्पादन

पूँजीवादी पुनरुत्पादन भी सीधा बढ़ता हुआ या घटता हुआ होता है। पूँजीवादी उत्पादन की कुछ विशिष्टताएँ हैं —

(१) उत्पादन के साधन पूँजीपतियों की व्यक्तिगत सम्पत्ति होती है।

(२) कानून की रूह से मजदूर आज़ाद होता है लेकिन उत्पादन के साधनों का मालिक न होने के कारण वह अपनी श्रम-शक्ति को पूँजीपति के हाथ बेचने के लिये मजबूर होता है।

(३) पूँजीपति द्वारा मजदूर का शोषण अतिरिक्त अर्घ्य का रूप ग्रहण करता है जो कि पूँजीवादी उत्पादन का उद्देश्य है।

इन तमाम पूँजीवादी सम्बन्धों का जिनकी उत्पत्ति पूँजीवाद-पूर्व और सामन्त तथा घरेलू उद्योग धन्धों के युग से होती है, पुनरुत्पादन होना आवश्यक है।

• जहाँ तक एक मजदूर का सम्बन्ध है, जो कि उत्पादन के साधनों से वंचित है, एक श्रम-शक्ति के बेचनेवाले की हैसियत से, उत्पादन क्रिया के बाद उसकी स्थिति का पुनरुत्पादन होता रहता है, क्योंकि उसकी मजदूरी इतनी ही होती है कि श्रम शक्ति नामक वस्तु को वह बिक्री के उपयुक्त बना रख सकता है यानी वह श्रम के उपयोगी बना रहता है और अपने परिवार का भरण पोषण कर सकता है, इससे अधिक नहीं। यदि कुछ अरसे तक उसको श्रम शक्ति के अर्घ्य से अधिक अर्घ्य मिलता हो तो उसके पास काफ़ी धन इकट्ठा हो जायगा कि वह पूँजी के अधीनता पाश को छिन्न कर डालेगा। लेकिन साधारण तौर पर ऐसा होता नहीं है।

उत्पादन क्रिया में पूँजीपति के अधिकार की जगह का पुनरुत्पादन तभी सम्भव है जबकि उसके पास पुनरुत्पादन प्रक्रिया के लिये, श्रम शक्ति की खरीद के लिये पूँजी हो, जिस श्रम शक्ति और उत्पादन के साधनों के सयोग से अतिरिक्त अर्घ्य की सृष्टि होती है।

सीधे पुनरुत्पादन में यह किस प्रकार होता है? वस्तुओं की बिक्री के द्वारा पूँजीपति अपनी पूँजी का अर्घ्य लौट

पाता है और इसके अलावा अतिरिक्त अर्घ्य भी उसको मिलता है।

सीधे पुनरुत्पादन में उत्पादन क्रिया को उसी पैमाने पर दुहराया जाता है इसलिये पूँजीपति को उद्योग में दूसरी बार भी उतनी ही पूँजी लगानी होगी जितनी उसने पहली बार लगाई थी। अतिरिक्त अर्घ्य का वह उद्योग में नहीं डालेगा बल्कि अपने जाती खर्च के लिये इस्तेमाल करेगा।

किसी मजदूर के श्रम के दो रूप हैं। एक ओर तो उसका श्रम स्थिर पूँजी अर्थात् मशीन, इमारत, कच्चामाल आदि का एक अंश तैयार माल में रूपान्तरित करता है और दूसरी ओर वह नये अर्घ्य की सृष्टि करता है। इस नये अर्घ्य के एक अंश में मजदूरी दी जाती है और दूसरा अंश होता है पूँजीपति का अतिरिक्त अर्घ्य। स्थिर और अस्थिर पूँजी का अर्घ्य पूँजीपति के लिये खो नहीं जाता, ये तैयार माल में मौजूद होते हैं और उत्पादन क्रिया के बाद पूँजीपति को यह लौट मिल जाता है। अतिरिक्त अर्घ्य यदि पूँजीपति अपने निजी खर्च में इस्तेमाल करता है तो वह उसको नये पैदावार के अर्घ्य में लौट नहीं मिलता, वह निरा खर्च ही खर्च होता है। सीधे पुनरुत्पादन में पूँजीपति मजदूरों के शोषण से मूलपूँजी की जगह एक बिलकुल नई पूँजी खड़ा कर देता है।

जब हम किसी उत्पादन चक्र को अगले या पिछले उत्पादन चक्र से स्वतन्त्र रूप से देखें मानों उत्पादन क्रिया एक ही बार हुई और वह दुहराई नहीं गई तो हमें ऐसा दीखेगा कि पूँजीपति जो मजदूरी बाजार में माल बिकने के पहले ही मजदूर को देता है वह अपने पास से देता है। पुनरुत्पादन के दृष्टिकोण से इन उत्पादन चक्रों को हम विशिष्ट रूप से नहीं देखते बल्कि एक दूसरे से संलग्न रूप में देखते हैं और तब यह स्पष्ट हो

जाता है कि पिछले उत्पादन चक्र में मज़दूर द्वारा उत्पन्न अर्घ्य से ही अगले उत्पादन चक्र में मज़दूरों को मजदूरी दी जाती है।

पुनरुत्पादन के सिलसिले में और एक महत्व की बात हमारी नज़र में पड़ती है। जब उत्पादन की क्रिया में मज़दूर उत्पादन के साधनों का यथा मशीन कच्चा माल आदि का इस्तेमाल करता है तो वह यह काम फैक्टरी के अन्दर करता है जो फैक्टरी मज़दूर की नहीं बल्कि पूँजीपति की सम्पत्ति है। इस क्रिया का उत्पादक इस्तेमाल कहते हैं। यहाँ मज़दूर पूँजीपति के लिये काम करता है। लेकिन श्रम शक्ति के पुनरुत्पादन की बात भिन्न है। श्रम शक्ति की पुनरुत्पादन क्रिया क्या है? यह है मज़दूरों की सब आवश्यकताओं जैसे खाना, कपड़ा, परिवार पालन, घररक्षा इत्यादि की पूर्ति। श्रम शक्ति के उत्पादन का श्रमिक फैक्टरी में नहीं बल्कि घर पर करता है। इसलिये ऐसा प्रतीत होता है कि श्रमिक की ज़रूरियात का पूरा होना उसका निजी काम है। लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं है। जब वह फैक्टरी में काम नहीं भी करता है तो भी वह पूँजीपति के लिये जीता है। वह खाता पीता अपने लिये नहीं बल्कि इसलिये कि वह पूँजीपति श्रेणी के लिये अपनी श्रम शक्ति को क़ायम रख सके।

सीधा पुनरुत्पादन कोई वास्तविक क्रिया भले हो [illegible] लेकिन अधिकांश रूप से यह आनुमानिक है। वास्तव में ऐसा विरले ही होता है।

बढ़ता हुआ पुनरुत्पादन

पूँजीवाद पूर्व पुनरुत्पादन की विशेषता है कि इसका उद्देश्य है भोग। छोटे पैमाने पर वस्तुओं के उत्पादक का उद्देश्य है एक निर्दिष्ट पैमाने के रहन सहन तक पहुँचना।

दास समाज और सामन्त-समाज का उद्देश्य है गुलामों के द्वारा अतिरिक्त पैदावार की प्राप्ति और दासों के मालिकों के लिये और सामन्तप्रमुखों के लिये एक विलासिता के जीवन को सम्भव बनाना। पूँजीवादी समाज में पुनरुत्पादन का उद्देश्य बिलकुल भिन्न है। वह है अतिरिक्त अर्घ्य के स्रोत की अथक चेष्टा। पूँजीवादी उत्पादन प्रथा में ही इस उद्देश्य की सिद्धि हो सकती है। मुनाफा का पीछा करने के कारण उत्पादन का अभूतपूर्व विस्तार होता है। व्यक्तिगत रूप से भी पूँजीपति को और पूँजीपतियों के होड़ में पैदावार में वृद्धि करनी पड़ती है। इसलिये पूँजीवादी समाज में सीधा पुनरुत्पादन विरल ही है।

बढ़ते हुए पुनरुत्पादन के लिये यह आवश्यक है कि पूँजीपति अपने अतिरिक्त अर्घ्य का एक अंश अपने कारोबार को बढ़ाने में यानी मशीन, कच्चामाल, और श्रम शक्ति आदि खरीदने के काम में लगावे। इस प्रकार पूँजी के कलेवर की वृद्धि के द्वारा वह अतिरिक्त अर्घ्य के परिमाण को बढ़ाता है। इस प्रकार पूँजी के रूप में अतिरिक्त-अर्घ्य के प्रयोग को मार्क्स ने पूँजी का 'सञ्चय' नाम दिया है। इसलिये हर बढ़ते हुए उत्पादन को पूँजी का 'सञ्चय' नहीं कहा जायगा बल्कि केवल उनको जिनकी बुनियाद है पूँजीवादी सम्पत्ति पर। पूँजी का सञ्चय रुपया का ढेर लगाना नहीं है। यह तो अतिरिक्त अर्घ्य के ऊपर निर्भर है। अतिरिक्त अर्घ्य इकट्ठा होता है पूँजीपति की सञ्चयवृत्ति के अनुपात में नहीं बल्कि जिस अनुपात में कि वह श्रम शक्ति का शोषण करता है और शोषण की मात्रा पर यह निर्भर है कि कितना अतिरिक्त अर्घ्य वह इकट्ठा करता है।

इस प्रकार हम नीचे लिखे नतीजों पर उपनीत होते हैं—

(१) क्रमसञ्चय बढ़ता हुआ पूँजीवादी पुनरुत्पादन तब होता है जबकि पूँजीपति निजी खर्च के लिये कुल अतिरिक्त

अर्थ को खर्च नहीं करता बल्कि इसके एक भाग को उत्पादन में लगाता है और इससे अपनी पूँजी के कलेवर को पुष्ट करता है।

(२) पूँजी के राशिकरण से पूँजी और अतिरिक्त अर्थ दोनों की वृद्धि होती है।

(३) पूँजीवादी राशिकरण की विशेषता यही है कि उसी बढ़ते हुए पैदावार में पूँजीपति को दिलचस्पी है जिससे उसको अतिरिक्त अर्थ्य की प्राप्ति हो। व्यवहार अर्थ्य के बढ़ते हुए पुनरुत्पादन के साथ यदि अतिरिक्त अर्थ्य की वृद्धि न हो तो पूँजीवादी अर्थ में उसको बढ़ता हुआ पुनरुत्पादन नहीं कहा जायगा।

पूँजी का एकत्रीकरण और केन्द्रीकरण

अब पूँजीवादी विकास की दिशा और झुकाव की ओर हमको गौर करना चाहिये। जो पहली बात हमारी नजर में पड़ती है वह है बड़ी फ़ैक्टरियों का उद्भव और पूँजी का एकत्रीकरण और केन्द्रीकरण।

सञ्चय से पूँजीपति अपना मुनाफा बढ़ाता है और प्रतियोगिता में टिक सकता है क्योंकि कारोबार बढ़ जाने के कारण वह टिकाऊ अधिक होता है।

पूँजीपतियों के आपसी प्रतिस्पर्धा में सबसे बड़ा हथियार है वस्तुओं को कम मूल्य पर बेचना। और यह क़रीब क़रीब स्वयं सिद्ध बात है कि बड़ा कारोबारवाला सस्ते दाम पर चीज़ बेच सकता है। छोटे कारखानों के मुकाबले में बड़े कारखानों को कई सुविधायें हैं, जैसे—

(१) यह अपने काम में वैज्ञानिकों और यान्त्रिकों को लगा सकता है और यान्त्रिक उन्नति के द्वारा कम समय में और कम दाम पर चीज़ें पैदा कर सकता है।

(२) वस्तुविशेष को पैदा करने में वह कुशलता प्राप्त कर सकता है और श्रम के विभाजन के द्वारा वस्तुओं का पैदा करने का लागत दाम कम करता है।

(३) कारखाने के विस्तार के साथ नफरी खर्च घट जाता है।

(४) वस्तुओं की बिक्री और कच्चा माल के खरीद में इसको अधिक सुविधा प्राप्त है।

(५) तिजारती दुनिया में इसका मर्यादा अधिक है और इसको ज्यादा रकम कम सूद पर अधिक समय के लिये कर्ज मिल सकता है।

पूँजीवाद के विकास के साथ उत्पादन और पूँजी दोनों का एकत्रीकरण और केन्द्रीकरण होता रहता है।

एकत्रीकरण और केन्द्रीकरण में अन्तर क्या है? मार्क्स के शब्दों में हर पृथक पूँजी उत्पादन के साधनों का समावेश एकत्रीकरण है और इसका छोटी या बड़ी श्रमिक सेना पर अधिकार होता है। हर सञ्चय नये सञ्चय का साधन बन जाता है। बढ़ता हुआ सम्पद् सञ्चित पूँजी का काम करता है और इससे व्यक्तिगत रूप से पूँजीपति के हाथों में सम्पद्राशि एकत्रित होते हैं और इस प्रकार उत्पादन की बुनियाद बढ़ती है और विशिष्ट प्रकार के पूँजीवादी उत्पादन की नींव पड़ती है। पूँजीपतियों की तादाद बढ़ने से सामाजिक पूँजी में वृद्धि होती है। बाकी हालात के समान रहने पर पृथक् पूँजी कुल सामाजिक पूँजी का जो अंश है उसी अनुपात में इसकी और इसके साथ उत्पादन के केन्द्रीकरण में वृद्धि होती है। साथ ही साथ मूल पूँजी के अंश अलग अलग हो जाते हैं और स्वतन्त्र पूँजी बन जाते हैं। पूँजी के सञ्चय के साथ पूँजीपतियों की संख्या बढ़ती जाती है।

इस प्रकार पूँजी का एकत्रीकरण और सामाजिक पूँजी की वृद्धि का पारस्परिक सम्बन्ध बहुत निकट है। कुल सामाजिक पूँजी के इस प्रकार टुकड़े होने के बाद इनका फिर आकर्षण होने लगता है। इस आकर्षण का रूप पूँजी का सञ्चय नहीं है। यह बना बनाई पूँजियों का एकत्रीकरण है, जो उनके पृथक अस्तित्व का अन्त करता है, एक पूँजीपति की पूँजी का दूसरे पूँजीपति द्वारा हड़प लेना है, बहुत से छोटे पूँजीपतियों का थोड़े से पूँजीपतियों में रूपान्तरित होना है। पहले की प्रक्रिया से इसकी भिन्नता यह है कि इसमें जो पूँजी वर्तमान है उसी के बटवारे में परिवर्तन होता है। यह प्रक्रिया कुल सामाजिक पूँजी की वृद्धि से सीमित नहीं है न इसका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध पूँजी के सञ्चय से है। यहाँ एक आदमी की पूँजी बहुत बढ़ जाती है इसलिये कि बहुतेरे अपनी पूँजी खो बैठते हैं। यही केन्द्रीकरण है जो एकत्रीकरण और सञ्चय से भिन्न है।

पूँजीवाद के विकास के साथ नया कारखाना चलाने के लिये जो कम से कम पूँजी की आवश्यकता होती है उसकी मात्रा बढ़ जाती है। पूँजी का केन्द्रीकरण पूँजी की ताकत को बहुत बढ़ा देती है और पूँजी का सञ्चय भी तेज़ी से होता रहता है।

पूँजीवाद का यान्त्रिक विकास

किसी भी समाज के, और उसमें पूँजीवादी समाज सम्मिलित है, विकास में यान्त्रिक उन्नति का विशेष स्थान है।

घरेलू उद्योग धन्धा और दस्तकारी के ऊपर ही पूँजीवाद की बुनियाद है। यद्यपि घरेलू उद्योग धन्धा और दस्तकारी दोनों के लिये शारीरिक श्रम की आवश्यकता है लेकिन पहले से कहीं ज़्यादा दूसरे में श्रम का विभाजन है। घरेलू धन्धों में

पूरा काम दो या तीन आदमी करते हैं और दस्तकारी में कई हाथों से गुजर कर तैयार माल बनता है और हर आदमी पूरे काम का एक निश्चित अंश करता है। दोनों का इस विषय में समानता है कि उत्पादन की प्रक्रिया का कोई वैज्ञानिक विभाजन नहीं है। पूँजीवाद की यान्त्रिक विशेषता यह है कि शारीरिक श्रम की जगह मशीन लेती है। दस्तकारी में उत्पादन प्रक्रिया के विभाजित कामों को सुचारु रूप से करने के लिये जो औज़ारें बनने लगती हैं उन्हीं से मशीनों का शुरूआत हो जाता है।

मशीनों की उत्पत्ति और मशीनों का विकास क्रमशः हुआ है। पहले मशीनें हाथ से चलाई जाती थीं, फिर मशीन चलाने के लिये हवा और पानी का इस्तेमाल किया जाता था, अब कोयला और बिजली से चलती हैं। अब मशीनों के कारण न केवल शारीरिक श्रम ही अनावश्यक है बल्कि उसकी कुछ भी कोई उपयोगिता नहीं है। मशीनों के प्रकार का क्षेत्र भी अब बहुत बढ़ गया है और मशीनों का आकार भी आश्चर्यजनक रूप से बढ़ा है।

पूँजीवादी मशीन-युग की विशेषता यह है कि केवल वस्तुओं के प्रकार बढ़ाए नहीं जाते। कुछ चुने हुए प्रकार के व्यवहार के उपयोगी और सस्ती चीजें बहुत बड़ी तादाद में पैदा की जाती हैं।

बिजली से मशीन युग का एक नया अध्याय आरम्भ होता है।

(१) इससे दूर की जगहों से अवस्थित मशीनों को चलाने की ताकत पैदा की जा सकती है, (२) अनेक ईंधन से बिजली पैदा की जा सकती है जैसे तेल, पत्थर का कोयला और पानी आदि, (३) प्राकृतिक शक्ति के अभाव में भी इससे मशीनें चलाई जा सकती हैं, (४) कपड़े का माप आदि के साथ

बिजलीघर पैदा करके जहाँ कच्चा माल पैदा होता हो वहाँ मशीनें रखी की जा सकती हैं, (५) बिजली के इस्तेमाल के कारण काम करने की अवस्थाओं में स्वास्थ्य के अनुकूल परिवर्तन हो सकता है, (६) और इसका इस्तेमाल हर जगह हो सकता है, बड़े या छोटे कारखानों में तथा घरों में भी जैसे मशीनों के आकार में वृद्धि हुई है उसी प्रकार बिजलीघर भी अब बहुत बड़े-बड़े बनते हैं, यहाँ तक कि कुल देश में चार छः केन्द्र से सारे मुल्क को बिजली पहुँचाई जाती है।

पूँजीवाद में छोटे उद्योग

पूँजीवाद की उच्च विकसित अवस्था में भी बड़े बड़े उद्योगों के बगल में ही छोटे छोटे उद्योग भी चलते रहते हैं। दस्तकारी के काम भी जगह जगह पर चालू रहते हैं। घरेलू धन्धों में व्यक्ति की मर्ज़ी को पूरा करने के लिये पैदा किया जाता है। पूँजीवाद की अवस्था में दस्तकारी और फ़ैक्टरी की चीज़ें व्यक्ति की मर्ज़ी की परवाह नहीं करतीं। जन-साधारण के व्यवहार के लिये तैयार माल बिकता है। गाँवों के बनिस्बत शहरों में और अधिक कारीगर के लिये कोई जगह नहीं रह जाती। कारीगर उन्हीं क्षेत्रों में टिका रहता है जहाँ ग्राहकों की अपनी ज़रूरियात की अलग अलग पूर्ति की ज़रूरत हो जैसे दरज़ी का काम। गाँवों में कारीगर का क्षेत्र कहीं अधिक विस्तृत है। उसको कच्चा माल दिया जाता है और बहुत कम मज़दूरी पर वह घर पर तैयार माल बनाता है। पूँजीवाद में कारीगर के लिये केवल ग़रीबी ही होनी है।

दस्तकारी की विशेषता यही है कि वह बाज़ार के लिये काम करता है। कारीगर का सम्बन्ध सीधे ग्राहक से है लेकिन दस्तकार के लिये ज़रूरत है एक बीच के आदमी की जो उसकी चीज़ को ख़रीदकर बाज़ार में बेचे। दस्तकारी का रूप साधा

रणत इस प्रकार होता है—उद्योग के सिरे पर होता है एक माल खरीदनेवाला जिसके नीचे होते हैं हज़ारों मज़दूर जो घर पर काम करते हैं। इनको वह कच्चा माल देता है और तैयार माल उनसे खरीदता है। कुल माल को वह अकेले बेच नहीं सकता और बिक्री के लिये कुछ बीच के लोगों की सहायता लेता है। मामूली तौर पर काम के घण्टे अधिक और मज़दूरी कम, यही हालत रहती है। औरतें और बच्चे भी काम में लगाये जाते हैं। काम करने की हालात बहुत खराब होती हैं। बिखरे हुए होने के कारण मज़दूर संगठित रूप से अपनी हालात को सुधार नहीं सकता। फैक्टरी के क़ानून इन पर लागू नहीं होते।

मालिक के लिये यह विशेष रूप से लाभजनक है क्योंकि उसको स्थिर पूँजी में कोई रक़म नहीं लगानी पड़ती। लाभ के समय आसानी से वह काम बढ़ा सकता है और मन्दा के समय बिना किसी डर के वह मजदूरों को कोई काम नहीं देता। लेकिन पूँजीवाद में यह अधिक दिन टिक नहीं सकता और इसका अन्त अनिवार्य है।

पूँजीवाद में कृषि

पूँजीवाद में कृषि का विकास छोटे उद्योगों की अवस्था से आगे नहीं बढ़ा होता है। इस प्रकार उद्योग के मुक़ाबले कृषि बहुत पिछड़ी हुई होती है। लेनिन के शब्दों में "शारीरिक श्रम का आधिक्य, साधारण सहयोग, जहाँ तहाँ मशीनों का प्रयोग, तुलनात्मक रूप से छोटे पैमाने पर उत्पादन, ये सब चीज़ें साबित करती हैं कि कृषि आधुनिक मशीन-उद्योग की अवस्था को नहीं पहुँचा है। फैक्टरी में उत्पादन प्रक्रिया की तरह कृषि की प्रक्रिया का एक सिलसिला नहीं है।"

पिछड़ी हुई यान्त्रिक स्थिति के साथ कृषि में साधारण तौर पर छोटे पैमाने पर व्यापार होता है। इसका कारण बतलाते हुए लेनिन ने कहा है —

"उद्योग म भी बड़े पैमाने पर पैदावार का प्राधान्य इतना निरपेक्ष नहीं ह जितना कि लाग समझते हैं। वहाँ भी यह तभी होता है जब बाक़ी सब हालात बराबर हों तो शायद ही होता है। कृषि में इस नियम क प्रयोग की सीमा और भी सकुचित है क्योंकि यहाँ क उत्पादन क हालात और भी विचित्र हैं।"

बड़े पैमाने पर कृषि के रास्ते में रुकावट क्या है? कृषि में मशीनों के प्रयोग में ही कइ कठिनाइयाँ हैं। मशीनों का प्रयोग हर प्राकृतिक अवस्था में लाभदायक नहीं होता। उद्योग म साल के सब समय मशीनों का काम चलता रहता है लेकिन कृषि में ऐसा नहीं होता, कुछ मौसमों में ही मशीन का प्रयोग हो सकता है हर मौसम में नहीं।

मशीन का प्रयोग तभी होता है जब यह मनुष्य श्रम से सस्ता हो। कृषि में श्रम शक्ति का दर बहुत सस्ता होता है और यही कारण है कि यहाँ मशीन पनपने नहीं पाता।

भूमि-सम्पत्ति ज़मींदार का एकाधिकार होने के कारण, मशीन का मालिक अपने इच्छानुसार कृषि की ज़मीन की सीमा को बढ़ा नहीं सकता। उसी ज़मीन में पूँजी के अधिकाधिक प्रयोग से पैदावार उसी अनुपात में बढ़ता नहीं यह भी कृषि में मशीन क प्रयोग के लिये बाधा उत्पन्न करता है।

अंतिम बात यह है कि पिछड़े हुए मुल्कों में मशीनों की उन्नति म भूस्वामियों की कोई दिलचस्पी नहीं होती क्योंकि वह न केवल अतिरिक्त पैदावार का ही मालिक है, वह आवश्यक पैदावार को हड़प लेता है।

बड़ी किसानी और छोटी किसानी

ऊपर जो कुछ कहा गया है वह सत्य होने पर भी बड़े पैमाने पर खेती की कुछ सुविधायें हैं। रफ़्तार धीमी

भले ही हो लेकिन बड़े पैमाने पर खेती में उत्पादन का एकत्रीकरण कुछ न कुछ होता रहता है।

बड़े पैमाने पर किसानी करने से पैदावार का लागत मूल्य कम होता है। मकान और दीगर खर्च भी कम होते हैं। खेत बड़े होने के कारण अच्छी मशीनों का इस्तेमाल किया जा सकता है। श्रम शक्ति का भी बेहतर इस्तेमाल हो सकता है। श्रमिकों की तादाद अधिक होने के कारण श्रम का विभाजन भी ढंग से हो सकता है। बड़ी किसानी का यह भी फायदा है कि काफी हुनरमन्द कृषि के विशेषज्ञ भी काम में लाये जा सकते हैं। कर्ज और तिजारत के विषय में भी इस क्षेत्र में विशेष सुविधा रहता है। बैंक से भी इसका सम्बन्ध जुट जाता है और कुछ सुविधायें प्राप्त होती हैं।

कृषि में उत्पादन का एकीकरण और छोटा किसान

कृषि में उत्पादन के एकत्रीकरण का यह अवश्यम्भावी परिणाम है कि छोटे किसानों का खातमा होने लगता है। बड़े किसान की सुविधाओं का मुकाबला छोटा किसान कैसे करता है? उसके पास इसके मुकाबले के लिये है क्या सिवा अत्यधिक श्रम, भूखा रहना और इस प्रकार की खेती करना जिससे जमीन की उत्पादन शक्ति का क्षय होता रहे।

किसानों को तीन श्रेणी में बाँटा जा सकता है—

(१) धनी किसान जो तिजारत या सूदखोरी से अथवा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से श्रम के शोषण से जीवन धारण करता है।

(२) मध्यम किसान जो किराये पर मजदूर नहीं रखता, जिसके पास अपने औजारों की कमी नहीं है अपने पैदावार का अधिकांश भाग जो अपने लिये खर्च करता है और बाकी हिस्सा धनी किसान, व्यापारी और जमींदार को देता है।

(३) ग़रीब किसान जो ज़मींदार तथा उपरोक्त दोनों श्रेणियों द्वारा शोषित होते हैं।

किसानों की अवस्था के विकास के सिलसिले में किराये पर मज़दूरी का असर बहुत पड़ता है। पूँजीवाद नियमित रूप से थोड़े से मध्यम वर्ग के किसान को धनी किसान बनाता है जो क्रमशः छोटे फिर बड़े पूँजीपति बन जाते हैं और अधिकांश को किराये का मज़दूर बनाता है जो सम्पत्तिहीन होकर अपनी श्रम शक्ति बेचने के लिये बाध्य है।

धीरे धीरे ही सही पूँजीवाद कृषि में प्रवेश करता रहता है और इसका कुछ कुछ फल भी होता रहता है। जिन बाधाओं के कारण कृषि में पूँजीवाद फैल नहीं पाता उनसे छोटे किसान की ही मुसीबत बढ़ती जाती है। वह अपनी ज़मीन के टुकड़े से चिपटा रहता है और उपवास, ग़रीबी और अत्यधिक श्रम के अन्दर जीवन निर्वाह करता है।

पूँजीवाद में कृषि समवाय

कृषि में सहयोग का साधारण रूप होता है—ख़रीद, बिक्री या क़र्ज़ के समवाय। कृषि में ख़रीद या बिक्री के समवाय का वर्णन पहले ही किया जा चुका है। छोटे पैमाने पर पैदा करनेवालों, के लिये क़र्ज़ समवाय लाभदायक होता है क्योंकि इससे उसको सूदख़ोर महाजनों के पञ्जे से छुटकारा मिलता है और उसको कम सूद पर रुपया मिलने लगता है। कृषि में ख़रीद, बिक्री, या क़र्ज़ के समवाय चारों ओर फैले रहते हैं। लेकिन उत्पादन के क्षेत्र में समवाय के लिये यह सही नहीं है। इसका उद्देश्य और गम्भीर है क्योंकि यह उत्पादन के संगठन की प्रक्रिया को सहयोग की बुनियाद पर प्रतिष्ठित करता है। उत्पादन के क्षेत्र में सहयोग के माने हैं ज़मीन के टुकड़ों को एक साथ मिलाना, सबके मवेशी और

औज़ारों को इस्तेमाल के लिये एकत्रित करना इत्यादि यानी एक शब्द में उत्पादन का सामाजिक बुनियाद पर संगठित करना। पूँजीवाद में यह पनप नहीं सकता, क्योंकि न तो यह पूँजीवादी तरीकों को अपना सकता है और न पूँजीवादी उद्योग की प्रतियोगिता में टिक सकता है। पूँजीवादी बाज़ार, जहाँ व्यक्तिगत रूप से पूँजीपतियों में भीषण प्रतिस्पर्धा जारी रहती है, की परिवर्तनशील हालत में यह आसानी से अपने को खपा नहीं सकता। किसान के दिमाग में सम्पत्ति के ख्याल की प्रबलता भी इसके रास्ते में एक बहुत बड़ा रोड़ा है। किसानों के लिये समवाय के संगठनों में प्रतियोगिता के कारण आपसी झगड़े भी बहुत होते हैं। इन सब कठिनाइयों के बीच भी यदि यह जीता रहता है तो यह किराये के मज़दूरों के शोषण के लिये पूँजीवादी समवाय का रूप ले लेता है। खेती के अयोग के रूप में, जैसे डेयरी आदि में, इसको काफी सफलता मिलती है क्योंकि इसमें निजी सम्पत्ति के त्याग का प्रश्न नहीं उठता।

पूँजीवादी व्यवस्था में समवाय समितियों की कमी नहीं होती है लेकिन इनसे छोटी किसानों का विकास समाजवाद की दिशा में नहीं हो सकता है। सब किसानों को सहयोग का फ़ायदा नहीं मिल सकता। पूँजीपतियों की प्रतियोगिता में यह अपने संगठन के अन्दर धनी किसानों को ही सम्मिलित करना चाहता है और छोटे किसानों को दूर रखता है। इसकी प्रवृत्ति पूँजीवादी संगठन में रूपान्तरित होने की होती है।

पूँजीवादी संचय का सार्वभौमिक नियम

पूँजीपति का मंत्र है 'संचय'—किसी प्रकार से भी हो। पूँजीवाद का नियम ही उसको इस रास्ते पर ले जाता है। जिस प्रकार से भी संचय हो सकता है वह उसके

लिये अच्छा है। पूँजीपति का उद्देश्य केवल अतिरिक्त अर्घ्य या मुनाफा का परिमाण बढ़ाना नहीं है बल्कि इनका अधिकाधिक सचय का साधन बनाना है।

इस दृष्टिकोण से मजदूरों से अतिरिक्त अर्घ्य पैदा करने का तरीका, श्रम की कार्य शक्ति का बढ़ाना, और श्रमिक की उत्पादन शक्ति का बढ़ाना महत्व की बातें हैं। साथ ही साथ पूँजीवाद पूर्ण शोषण प्रथा, विशेषकर किसानों का शोषण इसका एक विशेष अंग है।

पूँजी के एकत्रीकरण और केन्द्रीकरण के परिणामस्वरूप उत्पादन कला की उन्नति होना है—यानी, पूँजी के आन्तरिक संगठन में वृद्धि होनी है। जब तक इस नवीन यांत्रिक बुनियाद पर उत्पादन क्षेत्र का विस्तार होता रहता है तब तक श्रमिकों की संख्या में अवश्यमेव वृद्धि होती है। लेकिन श्रमिकों की संख्या वृद्धि की माँग स्थिर पूँजी की वृद्धि के अनुपात में घटती जाती है। इसमें बेकारों का एक रिजर्व सेना बनती जाती है। पूँजीपतियों के आपसी प्रतिस्पर्धा के कारण, छोटे और मध्यम पूँजीपतियों की बरबादी से भी इस सेना की वृद्धि होती रहती है। कृषि में पूँजीवाद के प्रवेश से भी बेकारों की भर्ती बनती रहती है। पूँजीवादी उत्पादन कला की उन्नति के साथ मजदूरों की माँग तो घट जाती है लेकिन औरत और बच्चे अधिक संख्या में काम में लगाये जाते हैं। इनकी और मर्दों की प्रतियोगिता होने लगती है और इस प्रकार भी कुछ मजदूर बेकार हो जाते हैं। आर्थिक संकट के समय और पूँजीवाद के स्थविर हालत में बेकारों की सेना और बनती रहती है।

इस रिजर्व सेना के अस्तित्व से श्रम शक्ति के शोषण की अनुकूल अवस्था की उत्पत्ति होती है और पूँजी के सञ्चय में

इसका फल यह होता है कि पूँजीपति की आमदनी त बढ़ती रहता है लेकिन मज़दूरों की मज़दूरी घटती रहती है यद्यपि वे अधिकाधिक अर्थ्य की सृष्टि करते रहते हैं।

पूँजी के एकत्रीकरण और केन्द्रीकरण की क्रिया से बड़ी बड़ी फैक्टरियों में मज़दूर एकत्रित होते जाते हैं। हुनर और गैरहुनर के कामों में प्रभेद की मात्रा घटती रहती है और उनका एका बढ़ता रहता है तथा मज़दूरों के एक देश से दूसरे देश में जाते रहने के कारण उनमें भाइचारा का सम्बन्ध स्थापित होने लगता है। इन्हीं तमाम उपायों से पूँजीवाद अपनी क़ब्र खोदने वालों को भी पैदा करता है।

पुनरुत्पादन और पैदावार क मूल्य की वसूली — वस्तु की बिक्री के लिये किन अव स्थाओं की आवश्यकता है? इसका कोइ निश्चय नहीं कि आवश्यकता रहने पर वस्तुओं की ख़रीद होगी ही। ज़रूरत यह है कि वस्तु बाजार में बिक सके या दूसरे शब्दों में ऐसी अवस्था होनी चाहिए कि ख़रीदनवाला देर सबेर उस वस्तु का मूल्य चुका सके।

पूँजीवादी समाज में साम्यावस्था के लिये और पुनरुत्पादन की धारा जारी रखने के लिय उत्पन्न वस्तु और उनके बाज़ार के बीच एक सामञ्जस्य होना जरूरी है। यह साम्यावस्था टूट जाती है और फिर नवीन अवस्था में साम्यावस्था स्थापित हो जाती है और इस प्रकार पूँजीवादी पैदावार के विभिन्न अंशों में सामञ्जस्य क़ायम हो जाता है। पूँजीवादी उत्पादन और विनिमय व विभिन्न अंश तराजू के दो पल्लों की तरह बराबरी पर आते रहते हैं और इसी के साथ साथ बिकी का माल और ख़रीदने की ताक़त ये दोनों पल्ले भी बराबर होते रहते हैं।

श्रम के विभाजन और पूँजीवादी समाज में उत्पादन के विभिन्न अंश सम्बन्धित होने के कारण किसी एक उद्योग में

विस्तार या सकोच का प्रभाव दूसरे उद्योगों पर पड़े बिना नहीं रह सकता। हर उद्योग दूसरे उद्योग के लिए बाज़ार है और अपनी वस्तुओं के लिये इसका बाज़ार दूसरे उद्योग हैं।

इससे यह स्पष्ट है कि पूँजीवादी पुनरुत्पादन में वस्तुओं की बिक्री का और उत्पादन और उपभोग के सम्बन्ध के प्रश्नों का उत्तर किसी एक पूँजीपति या किसी एक उद्योग के दृष्टिकोण से नहीं बल्कि सारे समाज के दृष्टिकोण से ही दिया जा सकता है। लेकिन सारे समाज के कोण से दृष्टि डालते हुए यह भूल न जाना चाहिए कि समाज के कई भाग हैं जिनके पल्ले एक दूसरे को बराबर करते रहते हैं और इन भागों को मिलाकर ही पूरा समाज है।

सीधे पुनरुत्पादन में पूँजीवादी उत्पादन के लिये आवश्यक शर्तें

पूँजीवादी उत्पादन की तमाम शाखाओं को दो हिस्सों में बाँटा जा सकता है—(१) वे उद्योग जिनमें उत्पादन के साधनों को पैदा किया जाता है और (२) वे जिनमें भोगपदार्थ पैदा किये जाते हैं।

मान लीजिये कि उस उद्योग में जिसमें उत्पादन का साधन पैदा किया जाता है (श्रेणी १) पूँजी लगाई गई है ५०००) जिसमें स्थिर पूँजी है ४०००) रु० और अस्थिर पूँजी है १०००) रु० और उस उद्योग में उपभोग के साधन पैदा किये जाते हैं (श्रेणी २) पूँजी लगी है मात्र २५००) रु०

मान लीजिये कि दोनों श्रेणियों में पूँजी के आन्तरिक सगठन का अनुपात है ४ : १ दोनों में शोषण का दर है १०० फीसदी, यह भी मान लीजिये कि पूँजी का हेर फेर एक ही उत्पादन चक्र में हो जाता है और यह भी मान लीजिये कि एक ही बार में स्थिर पूँजी का पूर्णांश बने हुए माल में स्थानान्तरित हो जाता है, तब यह समीकरण सिद्ध है—

श्रेणी १

४००० स्थिः पू + १००० श्र पू + १००० श्र श्र=६०००

श्रेणी २

२००० स्थि पू + ५०० श्र पू + ५०० श्र श्र = ३०००

अब बाज़ार में किस प्रकार से उत्पादन के साधन जिनका अर्घ्य है ६००० और उपभोग के साधन जिनका अर्घ्य है ३००० बिकता है। विनिमय केवल इन्हीं दोनों श्रेणियों के बीच नहीं बल्कि दोनों श्रेणियों में आपसी विनिमय भी होता है।

अब सीधे पुनरुत्पादन के लिये देखा जाय कि दोनों श्रेणियों में माल की बिक्री किस प्रकार से होती है। एक उत्पादन-चक्र के बाद काम फिर से चालू करने के लिये श्रेणी १ को चाहिये ४०००) रु० की मशीन। अब मजदूर को १०००) रु० की और चूँकि सीधे पुनरुत्पादन में पूँजीपति कुल अतिरिक्त अर्घ्य अपने लिये खर्च कर डालता है इसलिये पूँजीपति को भी १०००) रु० की उपभोग की चीज़ें लेनी पड़ेंगी श्रेणी २ से। श्रेणी २ को भी चीज़ें चाहिये श्रेणी १ से। श्रेणी २ को २०००) रु० की मशीनें श्रेणी १ से ही लेनी पड़ेंगी। श्रेणी १ के पूँजीपति और मजदूर दोनों को मिलाकर २०००) रु० की चीज़ें उपभोग के लिये चाहिये जो उसको श्रेणी २ से ही मिल सकती हैं। इस प्रकार श्रेणी १ की बाकी २०००) रु० की मशीनें बिक जाती हैं और इसके बदले उसको उसी अर्घ्य की उपभोग की चीज़ें मिल जाती हैं। अब श्रेणी २ की २०००) की चीज़ें तो बिक गईं। बाकी रहीं १००० रु० की चीज़ें या ५०० श्र पू + ५०० श्र श्र। लेकिन इसमें सीधे पुनरुत्पादन के नियमानुसार ५००) रु० की चीज़ें जायँगी मजदूर को और ५००) रु० की चीज़ें जायँगी पूँजीपति को। इसलिये इन दोनों श्रेणियों के विनिमय का चक्र है—

श्रेणी (१)
४००० स्थि पू + १००० अ पू + १००० अ अ = ६०००
और श्रेणी (२) २००० स्थि पू + ५०० अ अ + ५००
अ अ = ३०००

इस प्रकार श्रेणी (१) की स्थिर पूँजी की यानी ४०००) रु० की खपत अपनी ही श्रेणी में हो जाती है। और श्रेणी २ की १०००) रु० की चीज़ों की खपत अपनी ही श्रेणी में हो जाती है। अब इन दोनों श्रेणियों में सामञ्जस्य स्थापित हो जाता है यदि (१) श्रेणी (२) श्रेणी की स्थिर पूँजी की माँग को पूरी कर और श्रेणी (२) श्रेणी (१) के अ पू + अ अ के जोड़ के परिमाण की उपभोग की चीज़ों के दे। इसको इस प्रकार भी चिह्नित कर सकते हैं—(१) श्रेणी के अ पू + अ अ = श्रेणी (२) के स्थि पू। और भी $\frac{\text{अ पू}}{\text{अ अ}} = \frac{\text{स्थि पू}}{\text{२}}$।

बढ़ते हुए पुनरुत्पादन की साम्यावस्था के लिये आवश्यक शर्तें

मार्क्स के शब्दों में—"सञ्चय के लिये अतिरिक्त पैदावार के एक अंश का पूँजी में रूपान्तरित करना ज़रूरी है। लेकिन हम उन्हीं वस्तुओं को पूँजी में परिणत कर सकते हैं जिनका प्रयोग श्रम की क्रिया में हो सकता है (अर्थात् उत्पादन के साधन) और जिनसे मज़दूर जीवन धारण कर सकता है (अर्थात् जीवन के साधन) इसलिये जो पूँजी की रकम पहले लगाई गई थी उतनी रक़म और उद्योग में नियुक्त मज़दूरों के लिये खाने पीने की रक़म को पूरा करने के बाद कुछ उत्पादन के अतिरिक्त साधन और जीवन धारण की अतिरिक्त सामग्री को पैदा करने के लिये अतिरिक्त श्रम के एक अंश का प्रयोग करना पड़ेगा। एक शब्द में अतिरिक्त अर्घ्य इसलिये पूँजी में रूपान्तरित हो सकता

है कि जिस अतिरिक्त पैदावार का यह अर्थ है वही नई पूँजी का वस्तुगत आधार है।"

उत्पादन के अतिरिक्त साधनों के अलावा अतिरिक्त श्रम शक्ति की भी आवश्यकता है। मार्क्स के शब्दों में, "पूँजीवादी उत्पादन शैली पहले से ही इसका इन्तजाम कर रखती है। यह इस प्रकार से कि मज़दूर श्रेणी एक ऐसी श्रेणी बना दी जाती है कि उसको सम्पूर्ण रूप से मज़दूरी पर निर्भर करना पड़ता है और जिस श्रेणी की साधारण मज़दूरी न केवल उसके जीवन धारण के लिये बल्कि उसकी वंशरक्षा के लिये भी काफी होती है। पूँजी के लिये इतना ही आवश्यक है कि इस अतिरिक्त श्रम शक्ति को, जो कि मज़दूरों की तादाद में सालाना वृद्धि के रूप में प्रकाश पाता है, उत्पादन के अतिरिक्त साधनों, जो कि सालाना पैदावार में ही उत्पन्न होता है, के साथ जोड़ देता है और फिर अतिरिक्त अर्घ्य का पूँजी में रूपान्तरण सम्पूर्ण हो जाता है।"

इस प्रकार बढ़ते हुए पुनरुत्पादन की यह आवश्यक शर्त है कि पूँजी में अतिरिक्त उत्पादन के साधन और श्रम शक्ति का समावेश हो।

सीधे पुनरुत्पादन में श्रेणी (१) का अ पू + अ अ = श्रेणी (२) के स्थि पू के। लेकिन बढ़ते हुए उत्पादन के लिये पहली श्रेणी के अस्थिर पूँजी और अतिरिक्त अर्घ्य के जोड़ को न केवल द्वितीय श्रेणी की स्थिर पूँजी की माँग को पूरा करना है बल्कि उत्पादन के विस्तार के लिये कुछ अधिक बच रहना भी चाहिए। इसलिये बढ़ते हुए पुनरुत्पादन के लिये श्रेणी (१) के अ पू + अ अ का जोड़ श्रेणी (२) की स्थि पू से अधिक होना चाहिए।

मान लीजिये श्रेणी (१) के पूँजीपति अतिरिक्त अर्घ्य का आधा उत्पादन के विस्तार में लगाते हैं। अब यह अंक लीजिये

श्रेणी (१) ४०००स्थिर पू + १०००अ पू + १००० अ अ = ६०००
श्रेणी (२) १५०० स्थिर पू + ७५० अ पू + ७५० अ अ = ३०००

शोषण का दर दोनों में १०० फ़ीसदी है लेकिन आन्तरिक संगठन का अनुपात पहली श्रेणी में ४ १ है और दूसरी श्रेणी में २ १ है। यदि श्रेणी (१) में अ अ का आधा यानी ५०० उत्पादन के विस्तार में लगाया जाय तो नये अंक में ४०० जायगा स्थिर पूँजी को और १०० जायगा अस्थिर पूँजी को। अब देखिये कि ५०० के अर्घ्य का उत्पादन का साधन बाज़ार में है या नहीं ६००० के अर्घ्य का उत्पादन का साधन उत्पन्न किया गया है। इसमें से ४००० श्रेणी (१) को जाता है और १५०० श्रेणी (२) को जाता है। अब ५०० का उत्पादन का साधन बच रहा। आन्तरिक संगठन के पूर्वोक्त अनुपात में ४०० उत्पादन के साधनों के विस्तार में जाता है और १०० जाता है मज़दूरों को, जो इसका उपभोग के वस्तु की खरीद में लगाते हैं।

श्रेणी (२) में क्या होता है ? इसके १५०० का वस्तु श्रेणी (१) को जायगा उत्पादन का साधन खरीदने में। ७५० जायगा मज़दूरी में। अब अतिरिक्त अर्घ्य का ७५० बच रहा। इसमें से १०० जायगा श्रेणी (१) के नये मज़दूरों को भोग की सामग्री देने के लिये। इसके बदल में १०० का उत्पादन का साधन श्रेणी (२) को मिलेगा। इससे श्रेणी (२) के भी उत्पादन का विस्तार सम्भव होता है। यहाँ पूँजी का आन्तरिक संगठन है २ १। इसलिये जब स्थिर पू को १०० जायगा तो ५० जायगा मज़दूरों को। अब ७५० अतिरिक्त अर्घ्य में पूँजीपति के अपने लिये बचा ७५० – (१०० + ५०) = ६००। इसलिये बढ़ते हुए पुनरुत्पादन का नया अंक होगा—

श्रेणी (१) ४४०० स्थिर पू + ११०० अ पू + ५०० अ अ = ६०००

श्रेणी (२) १६००स्थि पू + ८००अपू + ६००अ श = ३०००

ऊपर कही गई बातों से श्रेणी (१) और श्रेणी (२) में बढ़ते हुए पुनरुत्पादन के लिये कुछ सम्बन्ध सिद्ध किये जा सकते हैं। (१) श्रेणी (१) या श्रेणी (२) के किसी उद्योग में विस्तार तभी सम्भव है जब दूसरी श्रेणी के भी किसी उद्योग में विस्तार हो।

(२) उत्पन्न वस्तु और खरीद की ताक़त दोनों में सामंजस्य होता है।

ऊपर का चक्र वैसे तो बहुत सरल है लेकिन वास्तव उत्पादन क्षेत्र में सब बहुत जटिल होता है। इस प्रकार उत्पादन के विस्तार के साथ पूँजी के आन्तरिक संगठन में वृद्धि होती है जिसको हमने अपरिवर्तित मान लिया था। विभिन्न उद्योगों में विनिमय का सम्बन्ध प्रत्यक्ष नहीं होता बल्कि मुद्रा के ज़रिये होता है।

उपरोक्त चक्रों से पूँजीवादी उत्पादन और विनिमय के विभिन्न अंशों के विकास में सामंजस्य का महत्व बहुत स्पष्ट है। स्वल्पांश अव्यवस्था से भी, किसी भी उद्योग में अत्युत्पादन या अनुत्पादन से, सारी पूँजीवादी प्रथा में अव्यवस्था फैल जाती है और सामंजस्य टूट जाता है।

उत्पादन में अराजकता और आर्थिक संकट

सामंजस्य के लिये ऊपर दी गई शर्तों से यह स्पष्ट है कि पूँजीवाद के विकास का रास्ता सरल नहीं है। इसके रास्ते में काफ़ी उतार चढ़ाव है।

पूँजीवाद पूर्व युग में भी समाज में अकाल आदि पड़ता था और आँधी तूफ़ान आदि के कारण दुर्भिक्ष भी होते थे और वर्तमान पूँजीवादी समाज में भी आर्थिक संकट हो जाते हैं लेकिन आज के संकट अनुत्पत्ति के कारण नहीं बल्कि अत्यु

त्पत्ति के कारण होते हैं, जब बाजार में माल भर जाता है और उनकी बिक्री नहीं हो पाता।

पूँजीवादी उत्पादन में सामजस्य कायम करने का दो शर्तें हैं—पूँजीवादी उत्पादन की विभिन्न शाखाओं का आनुपातिक विकास और खरीद की ताक़त और उत्पादन में समता। पूँजीवादी ढाँचा के विभिन्न हिस्से एक सूत्र में बँधे होने के कारण किसी एक हिस्से की गड़बड़ी से सारे ढाँचे में उलट पलट होने लगता है।

पूँजीवादी उत्पादन के आनुपातिक विकास में बाधा डालने की चीजें क्या हैं?

जो ताक़तें पूँजीवादी उत्पादन को विस्तार की ओर ले जाती हैं वे हैं—(१) अतिरिक्त अर्घ्य की तथा जो मुनाफा का दर गिरते रहने के कारण और तीव्र हो जाती है। (यह पहले ही कहा जा चुका है कि मुनाफा का दर गिरने का मुख्य कारण है, अस्थिर पूँजी की तुलना में स्थिर पूँजी की वृद्धि)।

(२) प्रतियोगिता, जिसके कारण पूँजीपति को अपनी जगह पर टिके रहने के लिये ही उत्पादन में वृद्धि करना होगा।

नतीजा यह है कि पैदावार बढ़ता जाता है और इसके साथ ही साथ पूँजी का आन्तरिक संगठन भी बदला जाता है। यह वृद्धि उत्पादन की हर शाखा में समान नहीं है। श्रेणी (२) की तुलना में श्रेणी (१) में वृद्धि अधिक होती है।

सचय का अर्थ है कि अतिरिक्त अर्घ्य का एक अंश उत्पादन में लगाया जाता है। यानी पूँजीपति अतिरिक्त अर्घ्य का कुल अंश श्रेणी (२) से माग की वस्तु खरीदने में खर्च नहीं कर डालता बल्कि इसका एक अंश

उत्पादन का साधन खरीदने में लगाता है और अल्पांश मज़दूरों के लिये भोग के वस्तु श्रेणी (२) से खरीदने में लगाता है। श्रेणी (२) में भी पूँजी के संचय का यही अर्थ होता है। इस प्रकार बढ़ते हुए पुनरुत्पादन में उपभोग के साधनों की बनिस्बत उत्पादन के साधनों में अधिक वृद्धि होती है।

विभिन्न उद्योगों का असम विकास और भी असम हो जाता है क्योंकि पूँजी के आन्तरिक संगठन के विभेद के कारण पूँजीपति द्वारा प्राप्त मुनाफा के परिमाण में अन्तर पड़ जाता है। पूँजीवादी समाज में लागत पूँजी के अनुपात में मुनाफा मिलता है। चूँकि श्रेणी (१) में पूँजी की लागत श्रेणी (२) से कहीं अधिक होती है इसलिये श्रेणी (१) में मुनाफा का कुल परिमाण श्रेणी (२) के परिमाण से अधिक होता है। इसलिये श्रेणी (२) के बनिस्बत श्रेणी (१) का पूँजीपति उत्पादन के विस्तार में अधिक पूँजी लगा सकता है। इस प्रकार दोनों श्रेणियों के उत्पादन में पूँजी का संचय असम होता है और इससे पूँजीवादी उत्पादन में अनुपात का अभाव और भी अधिक होता जाता है।

पूँजीवादी संचय के प्रभाव में श्रेणी (१) के वस्तुओं की माँग बढ़ती रहती है और इसके साथ ही साथ उत्पादन के साधनों का मूल्य बढ़ता रहता है। मूल्य की वृद्धि के साथ मुनाफा बढ़ता रहता है। अब सभी पूँजीपति श्रेणी (१) में पूँजी लगाने के लिये झुक पड़ते हैं। इस श्रेणी के उद्योगों का विस्तार तेज़ी से होता रहता है। स्थिर पूँजी का परिमाण बहुत बढ़ जाता है और बड़ी बड़ी फैक्टरियाँ बनने लगती हैं। लेकिन यह माल बाज़ार पहुँचने तक काफी समय लगता है और तब तक मूल्य काफी चढ़ा रहता है और इन उद्योगों में पूँजी आकर्षित होती रहती है।

लेकिन श्रेणी (२) में उत्पन्न उपभोग के वस्तुओं की माँग आपेक्षिक रूप से घट जायगी। ऐसा होने का कारण यह है कि ज्यों ज्यों सञ्चय बढ़ता जाता है दोनों श्रेणियों के पूँजीपति अपने अतिरिक्त अर्घ्य का अधिकाधिक अंश श्रेणी (१) के उद्योगों म लगाते हैं और इसकी तुलना म बहुत कम अंश अपने या नये नियुक्त मज़दूरों के लिये भोग की वस्तु की खरीद में लगाते हैं।

अतिरिक्त अर्घ्य का परिमाण बढ़ता जाता है। इसप्र अनुपात में वह हिस्सा जो पूँजीपति अपने ऊपर खर्च करता है घटता जाता है। पूँजीवादी समाज की कुल आमदनी में मज़दूर का हिस्सा घटता जाता है। इसके मुख्य कारण दो हैं, अस्थिर पूँजी की तुलना में स्थिर पूँजी की वृद्धि होती है और शोषण का दर बढ़ता रहता है। बढ़ती हुई सम्पत्ति का घटता हुआ हिस्सा मज़दूर श्रेणी के भोग में लगता है।

उपभोग की सामग्रियों और साधनों की माँग कम हो जाने के कारण इनका मूल्य और साथ ही साथ मुनाफा का दर भी घट जाता है। कुछ फैक्टरियाँ अपना पैदावार घटा देती हैं और कुछ बरबाद हो जाती हैं। मज़दूर बेकार हो जाते हैं। उपभोग के साधनों की माँग में और भी कमी हो जाती है।

फलस्वरूप कुछ समय तक उन उद्योगों का उत्पादन संकुचित हो जाता है जिनमें उपभोग के साधन पैदा किये जाते हैं। इसके कारण उत्पादन क साधनों की माँग में भी कमी पड़ जाती है। क्योंकि जब पैदावार घटने लगता है तो नई मशीनें कौन खरीदेगा? नतीजा यह होता है कि जब उत्पादन के साधन पैदा करनेवाले उद्योगों का माल बाज़ार पहुँचता है तो उनका कोई खरीदार नहीं रह जाता। बाजार की ज़रूरत से ज़्यादा माल उत्पन्न किया गया है। बने हुए माल की बिक्री रुक जाती है और इसस लेनदेन पर बहुत असर पड़ता है और पूँजीवादी

प्रथा में लेन देन का मुकाम बहुत नाजुक होता है। साधारणतया खुशहाली की शुरुआत के समय बेकार पूँजी काफी रहती है, जिसको उद्योग में लगने की तलाश होती है और इसी कारण सूद का दर बहुत कम होता है। इसके बाद उद्योग पनपने लगता है और कर्ज़ की माँग बढ़ जाती है और सूद का दर बढ़ने लगता है। बाज़ारों का आशाजनक स्थिति से बंकों का कारोबार बढ़ जाता है और वे कर्ज़ काफी देने लग जाते हैं तथा काफी तादाद में नोट और चेक निकालने लग जाते हैं। लेकिन बाज़ार की बिक्री के रुक जाने का खबर मिलते ही सूद का दर एकदम चढ़ जाता है। बंक में रुपया जमा करनेवालों में भीति पैदा हो जाती है और सब लोग नोट और चेक और ज़मानती कागज़ों को बदलकर सोना लेने के लिये बंक पर टूट पड़ते हैं। लेकिन बंक एक साथ सबको रुपया नहीं दे सकती।

मार्क्स के शब्दों में, "आर्थिक संकट के ठीक पूर्व अपनी आर्थिक स्वच्छन्दता के अहंकार में पूँजीपति कहता है कि मुद्रा अलीक कल्पना मात्र है वास्तव केवल है वस्तु। लेकिन अब चारों और पुकार मच जाता है, केवल मुद्रा ही वस्तु है। जैसे प्यासा पानी के लिये जी तड़पता है वैसे ही आत्मा मुद्रा के लिये तड़पती है।"

चूँकि विभिन्न विभाग और सारे उद्योग लेन देन के सूत्र में बंधे होते हैं इसलिये लेन देन के संकट में आ उत्पादन के संकट का साथी होता है, बहुत से उद्योग नदी गर्भ में डूब जाते हैं जो शायद न डूबते यदि वे और उद्योगों से लेन-देन के सूत्र में बँधे न होते।

सूद का दर एकाएक चढ़ जाने के बाद चीज़ों का दाम तेज़ी से घटता रहता है और बिना बिके हुए माल का ढेर लग जाता है। बहुत-सी फैक्टरियाँ पूरे समय तक काम नहीं करतीं,

कुछ बिल्कुल बन्द हो जाती हैं और बहुतेरे पूँजीपति बरबाद हो जाते हैं।

संकटकाल के बाद हालत सुधरने लगती है उन उद्योगों का जहाँ उपभोग के साधन पैदा किये जाते हैं। धीरे धीरे जमा हुआ माल कम दाम पर बिक जाता है। नये सिरे से उपभोग के साधनों की माँग होने लगती है और इसके कारण भेणी (२) के उद्योगों का भी पुनरुत्थान होने लगता है। फिर मजदूरों की माँग बढ़ जाती है, मजदूरों के खाने पीने की चीज़ों की माँग बढ़ जाती है और साधारण तौर पर एक खुशहाली का काल आरम्भ हो जाता है और अन्त में फिर एक नया संकटकाल उपस्थित हो जाता है।

संकट और भीषण आकार इसलिए पकड़ लेता है कि काफी समय तक अत्युत्पादन होता रहता है और इसका पता तब लगता है जब चीज़ें बाज़ार को पहुँचती हैं। लेन देन की प्रथा के कारण संकट और गहराई तक पहुँच जाता है। खुशहाली के समय पूँजीपतियों को क़र्ज़ की सुविधा के कारण नये उद्योग खुलने में काफी सहायता मिल जाती है। अत्युत्पादन के आरम्भकाल में लनदेन की प्रथा इस बात को ज़ाहिर नहीं होने देती कि अत्युत्पादन हो रहा है। बाज़ार में माल बिकने की कठिनाई होते हुए भी विभिन्न उद्योगों का उत्पादन बढ़ जाता है क्योंकि बैंकों से उनको सुविधा प्राप्त होती रहती है। यदि ऐसा न होता तो अत्युत्पादन की बात उनको जल्दी मालूम हो जाती। इस प्रकार अत्युत्पादन होते हुए भी कृत्रिम उपायों से कुछ काल तक खुशहाली बना रहता है।

पूँजीपति किन उपायों से संकट को पार करता है? मार्क्स के शब्दों में, "एक ओर तो उत्पादक शक्तियों का कुछ अंश बरबस विनष्ट किया जाता है और दूसरी ओर नये बाज़ारों पर

अधिकार होता जाता है और पुराने बाज़ारों का शोषण बढ़ जाता है। लेकिन इसका अन्तिम परिणाम यही होता है कि संकट और विस्तृत और गहरा हो जाता है और इसको पार करने की ताक़त पूँजीवाद की घटती जाती है।

इसका नतीजा यह होता है कि

(१) प्रतिस्पर्धा बहुत बढ़ जाती है और इसमें केवल मज़बूत उद्योग टिक पाते हैं। पूँजी का एकत्रीकरण और केन्द्रीकरण और बढ़ जाता है।

(२) श्रम की उत्पादन शक्ति और उत्पादनकला में उन्नति होती है। कोशिश यह होती है कि वस्तुओं के लागत मूल्य में कमी हो ताकि उनका मूल्य कम होने पर भी मुनाफ़ा में कमी हो।

(३) मज़दूरों का शोषण बढ़ जाता है।

तेरहवाँ अध्याय

साम्राज्यवाद और पूँजीवाद का पतन

पूँजीवाद और उत्पादक शक्तियों का विकास

पूँजीवाद जन्म काल से ही प्रतियोगिता के ऊपर प्रतिष्ठित है। जब पूँजीपति उन्नत मशीनों का प्रयोग करता है तो उसको आन्तरिक मुनाफा मिलता है, फिर, धीरे धीरे वे मशीनें आम इस्तेमाल में आने लगती हैं। प्रतियोगिता में कुछ उद्योगों की बरबादी हो जाती है लेकिन सारे समाज की उत्पादन शक्तियों का विकास होने लगता है। अन्तिम विश्लेषण करने पर संकट काल से ही उत्पादन की उन्नति और उसका विकास होता है। पूर्ववर्ती संकट के बिना पूँजीवादी समाज में अत्युत्पादन का सवाल उठता ही नहीं। संकट के कारण सैकड़ों छोटे उत्पादनकारियों का जो पिछड़ी हुई उद्योगकला से काम लेते हैं विनाश हो जाता है और आधुनिक मशीनों की बहुत बड़े कारखाने की सृष्टि की बुनियाद पड़ जाती है। उदाहरण-

शक्तियों को विनष्ट करके नई उत्पादक शक्तियों की स्फूर्ति के लिये आवश्यक अवस्थाओं की यह सृष्टि करता है। यह छोटे उत्पादन कारियो को दूर दिहात से निकालकर फैक्टरियों में काम करने के लिये बाध्य करता है और उनकी मानसिक शक्तियों को विक सित कर मज़दूर सेना का कलेवर बढ़ाता है और इस प्रकार एक नवीन समाज के उत्पादन की सृष्टि करता है। पूँजीवाद के यह उन्नतिशील अंग हैं। लेकिन वर्धिष्णु पूँजीवाद जब साम्राज्यवाद की अवस्था को पहुँचता है तो उसकी प्रगतिशीलता का अन्त हो जाता है।

यौथ कारोबार पूँजीवाद के अन्तिम प्रकाश की अवस्था की विशेषता यह है कि इसमें एकत्रीकरण और केन्द्रीकरण विराट् रूप धारण कर लेता है। यह एकत्रीकरण और केन्द्रीकरण बिलकुल नया रूप धारण कर लेता है।

किसी एक की पूँजी से जितना बड़ा कारखाना बन सकता है उससे कहीं बड़ा कारखाना बन जाता है जब वह लेन देन की सहायता लेता है।

विशेषकर केन्द्रीकरण का एक नया रूप, यौथ कारोबार का महत्व बहुत बढ़ जाता है। पूँजीवादी समाज में कई पूँजी पति मिलकर कम्पनी चलाते हैं। इनमें से हरएक पूँजीपति नी पूँजी के कई अंशीदार होते हैं और कारोबार का मुनाफा सबमें बँट जाता है।

यौथ कारोबार में यह जरूरी नहीं है कि हरएक का अंश समान हो। कारोबार की सम्पत्ति और इसके मुनाफे के ऊपर उसका कितना अधिकार होगा यह निर्भर है इस पर कि कारोबार में उसका अंश कितना है। ऐसे कारोबार में रुपया लगानेवालों में से हरएक को हिस्सेदारी की एक रसीद मिलती है। कारोबार

की व्यवस्था के लिये, अथवा डाइरेक्टर या मैनेजरों के चुनाव के लिये हर हिस्सेदार उतने वोट डाल सकता है जितनी उसके पास रसीदें हैं। इन रसीदों को वह बेच भी सकता है और इसके साथ ही साथ उसके अधिकार भी दूसरे के हाथ में चले जाते हैं। पूँजीवाद की इस अवस्था में यौथ कारोबार का इतना विस्तार क्यों होता है ?

हमने देख लिया कि स्थिर पूँजी की वृद्धि के साथ गैर मनकूला सम्पत्ति की तेजी से वृद्धि होती है, यथा इमारत, मशीन, औज़ार इत्यादि की। गैर मनकूला सम्पत्ति की वृद्धि के दो नतीजे होते हैं —

(१) पूँजी को एक उद्योग से हटाकर दूसरे उद्योग में लगाने में बड़ी कठिनाई हो जाती है और इस कठिनाई के कारण विभिन्न उद्योगों के मुनाफे बराबरी पर नहीं आ पाते और औसत मुनाफा से इनकी दूरी बढ़ जाती है।

(२) नये कारोबार चलाने के लिये कम से कम आवश्यक पूँजी की रकम इतनी बढ़ जाती है कि किसी एक व्यक्ति के लिये इसका चलाना असम्भव हो जाता है।

यौथ कारोबार की विशिष्ट सुविधा यह है कि पूँजी आसानी से एक कम्पनी से दूसरी कम्पनी में लगाई जा सकती है। आधुनिक बड़े उद्योगों में पूँजी के हेरफेर की गति बहुत धीमी होने पर भी, व्यक्तिगत रूप से पूँजीपति किसी उद्योग से अपना पूँजी हटा सकता है क्योंकि वह अपना हिस्सा (या हिस्से की रसीद) बेच सकता है। इसके अलावा भी यौथ कारोबार इसके लिये दरवाज़ा खोल देता है कि आम जनता की छोटी-छोटी बचत की रकमों को बड़े कारोबारों में लगाया जा सके। यौथ कारोबार बहुत छोटी रकम की शेयरें निकालकर इस उद्देश्य को हासिल करता है और इस प्रकार जो नया कारोबार कोई एक पूँजीपति नहीं खड़ा कर

सकता था उसकी प्रतिष्ठा अब सम्भव हो जाती है। पूँजी इकट्ठा करने के साथ ही साथ कर्ज़ हासिल करना भी आसान हो जाता है। यौथ कारोबार का सामाजिक रूप होने के कारण बैंकों के लिये भी उनके फर्मों को नियन्त्रित करना सहज हो जाता है।

डिबेन्चर निकालकर भी ज्वाइन्ट स्टाक कम्पनी (यौथ कारोबार) अपने क़र्ज़ मिलने की रक़म बढ़ा लेती है। डिबेन्चर एक प्रकार का सर्टिफ़िकेट होता है जिसका मालिक सूद का एक निश्चित दर पाने का हक़दार हो जाता है। लेकिन शेयर होल्डर की तरह कम्पनी के बन्दोबस्त में उसकी कोई आवाज नहीं होती। किसी एक व्यक्ति की सम्पत्ति न होने के कारण यौथ कारोबार बहुत जनप्रिय हो गया है। किसी एक व्यक्ति की सम्पत्ति न होने पर भी यौथ कारोबार में विराट पूँजी लगती है और छोटे कारोबार या छोटे पैमाने पर उत्पादन करनेवाले इसका मुक़ाबला नहीं कर सकते।

यौथ कारोबार और पूँजी का सम्मीलरण— अनुचर कम्पनियों की प्रथा

पूँजीवादी विकास की हर अवस्था में यौथ कारोबार मिलते हैं लेकिन इसकी आख़िरी अवस्था में इनका महत्व बहुत बढ़ जाता है। इससे पूँजीवादी समाज में कौन सी नई बात पैदा हो जाती है!

वोट की व्यवस्था के कारण यौथ कारोबार धनी शेयर होल्डरों के हाथ में रहता है। देश भर में फैले होने के कारण छोटे छोटे शेयर होल्डर अक्सर कम्पनी के जलसों में शामिल नहीं होते। उनको अपने अंश का मुनाफ़ा मिलने से मतलब। इस प्रकार मुट्ठी भर पूँजीपतियों के हाथ में सारे समाज की पूँजी के केन्द्रीकरण के लिये यौथ कारोबार एक बहुत बड़ा औज़ार

बन जाता है। यह केन्द्रीकरण और भी बढ जाता है जब एक कम्पनी दूसरी कम्पनी में हिस्सेदार बन जाती है और इसको अपने प्रभाव में लाने की कोशिश करती है। वर्तमान कम्पनी एक नई कम्पनी के संगठन के लिये शेयरों की बिक्री कर सकती है और इन शेयरों का आधा खुद खरीदकर इस नई कम्पनी का पूरा नियन्त्रण अपने हाथ में रख सकती है। यह नई कम्पनी पुरानी कम्पनी की अनुचर कम्पनी कहलाती है। सारे के सारे उद्योग और बड़े बड़े कारोबार इस प्रकार मुट्ठी भर बड़े पूँजीपति शेयर होल्डरों के हाथ में पड़ जाते हैं।

Dividends, Founder's Profit and Fictitious Capital

यौथ कारोबार पर मुट्ठी भर पूँजीपतियों का प्रभुत्व मुनाफा के विभाजन में अपना असर डाले बिना नहीं रहता। मुनाफा का कुल भाग विभाजित होता भी नहीं। बड़े पूँजीपतियों को दोहरा फायदा मिलता है।

(१) मुनाफा का असली सत्व तनख्वाह के रूप में उनको मिल जाता है।

(२) उनके शेयरों की तादाद अधिक होने के कारण मुनाफा का मोटा अंश उन्हीं के पास रह जाता है, यानी शेयर होल्डरों को डिविडेन्ड के रूप में बँट जाता है।

कोई यदि अपना शेयर बेचे तो उसको उतना ही रुपया मिलेगा, जिसका सूद उसके शेयर के डिविडेन्ड के समान हो। शेयर की खरीद की रकम वास्तव में किसी श्रम का मूल्य नहीं है। उस रुपये से वह ऐसी वस्तु नहीं खरीदता जिसके उत्पादन में आवश्यक श्रम-समय लगा हो बल्कि उससे वह केवल डिविडेन्ड के रूप में एक बँधी आमदनी प्राप्त करने के अधिकार को खरीदता है।

इस प्रकार प्रतियोगिता विकास प्राप्त होकर अपनी विपरीतावस्था में परिणत हो जाती है। पूँजीवाद के विकास की इस अन्तिम अवस्था को एकाधिकार पूँजीवाद कहते हैं। क्रान्तिकारी मजदूर आन्दोलन भी पूँजीपतियों में एका लाने का एक कारण बन जाता है।

एकाधिकार के विभिन्न रूप

एकाधिकार का बहुत प्रारम्भिक रूप है कार्टेल। किसी वस्तु विशेष के बनानेवाले आपस में समझौता कर लेते हैं, मूल्य के, बाज़ार में हिस्सा बाँटने के, कच्चे और कच्चा माल खरीद के निस्बत।

कार्टेल का संगठन इस प्रकार से होता है कि इस बात की निश्चयता नहीं होती कि पूँजीपति अपने समझौता का पूरी तरह पालन करेंगे। होता यह है कि जिन हालात में पूँजीपति यह समझौता करते हैं उनके बदलते ही कार्टेल टूट जाता है। मुद्रास्थिति में परिवर्तन होने से, या दाम अधिक घटने बढ़ने पर भी कार्टेल का समझौता टूट जाता है। ये कार्टेल की कम ज़ोरियाँ हैं।

कार्टेल का स्थायित्व कम होने के कारण पूँजीपति अधिक स्थायी संगठन की तलाश में रहता है। वह अब सीन्डीकेट का संगठन करता है। सीन्डीकेट उद्योगों का पूँजीवादी सम्मेलन है जिसमें सम्मिलित उद्योगों की व्यापारिक स्वतन्त्रता लुप्त हो जाती है। सीन्डीकेट सम्मिलित उद्योगों के कुल माल की बिक्री का बन्दोबस्त करता है और यह भी निश्चय करता है कि किस दाम पर माल बिके। इन कामों के लिये एक कम्पनी बनती है जो इन सम्मिलित उद्योगों के कुल माल को खरीद लेती है और एक एकाधिकारी संगठन के तौर पर अपने निश्चित दाम पर ग्राहकों को माल बेचती है, इस तरह के संगठन के

य प्रतियोगिता करने को कोई रह नहीं जाता। सम्मेलन के न भिन्न उद्योग इस कम्पनी के शेयर खरीद लेते हैं।

सीन्डीकेट में सम्मिलित उद्योगों को स्वतन्त्र रूप से पना अपना रास्ता अख्तियार करने की आसानी नहीं होती योंकि सीन्डीकेट इनका बाज़ार से प्रत्यक्ष सम्बन्ध होने नहीं ता। लेकिन यह सम्मिलित उद्योगों की आपसी प्रतियोगिता ा खतम नहीं कर सकता। जब चीज़ों का दाम बढ़ जाता तो सीन्डीकेट का हर सदस्य अधिक से अधिक मुनाफा के लिये अधिक से अधिक माल पैदा करना चाहता है लेकिन ीन्डीकेट को इसमें कोई दिलचस्पी नहीं क्योंकि ज़्यादह माल ाज़ार पहुँचने से माल का दाम घट जाता है। इस अन्तर्विरोध कारण सीन्डीकेट भी टिकाऊ नहीं हो पाते।

अब पूँजीपति और भी सुसंगठित संगठन क़ायम करना चाहता है, यह ट्रस्ट डालता है। इसमें सम्मिलित उद्योगों की स्वतन्त्रता सम्पूर्ण रूप से चली जाती है। ट्रस्ट का पूरा अधिकार होता है कि इसमें सम्मिलित उद्योगों का चाहे जैसा प्रबन्ध करे, यहाँ तक कि ज़्यादह पिछड़ी हुई शाखाओं को यह बन्द भी कर सकता है।

ट्रस्ट उन फैक्टरियों को बन्द करके जहाँ पैदावार का लागत मूल्य अधिक होता है और उन फैक्टरियों को उत्पादन का केन्द्र बनाकर जहाँ लागत मूल्य कम होता है, अपने लिये मुनाफा अधिक कमाता है और मज़बूती से उनकी प्रतियोगिता करता है जो ट्रस्ट के बाहर फैक्टरियों में चीज़ें पैदा करते हैं। ट्रस्ट की सबसे बड़ी सुविधा यह है कि यह अपने अन्तर्गत उद्योगों में आपसी प्रतियोगिता बिलकुल भी नहीं होने देता।

ट्रस्ट उस प्रतियोगिता का तो अन्त कर देता है जो एक

ही प्रकार की चीजें बनानेवाले उद्योगों में होती है लेकिन इससे उन उद्योगों की प्रतियोगिता खत्म नहीं हो जाती जिनमें ट्रस्ट के ही फ़ैक्टरियों के लिये कचा माल इत्यादि उत्पन्न किया जाता है। जैसे, मान लीजिये कोई स्टील का ट्रस्ट है, इसको केवल स्टील की फैक्टरियों का ही मुक़ाबला नहीं करना होता बल्कि कचा लोहा पैदा करनेवाले उद्योगों से भी इसकी प्रतियोगिता हो सकती है और कचा माल ज्यादह दाम पर मिलने से इसको प्रतियोगिता में कठिनाई पड़ेगी।

इस कठिनाई को दूर करने के लिये विभिन्न अवस्थाओं पर कच्चे माल के उत्पादन के भिन्न भिन्न उद्योगों को एक सूत्र में बाँधा जाता है। इसमें वे उद्योग भी शामिल हैं जिनमें मुख्य पैदावार के साथ-साथ गौण पैदावार भी किया जाता है।

इस प्रकार से इन उद्योगों के एक सूत्र में बंधने के कई लाभ हैं —

(१) यह व्यापार की चञ्चलता को रोकता है।

(२) इसमें मुनाफ़ा का दर क़रीब क़रीब एकसा रहता है।

(३) इससे यान्त्रिक और उद्योग कला की उन्नति होती है।

(४) मन्दी के समय भी इनके टिकने की शक्ति अधिक होती है।

पूँजीवादी एकाधिकार और विरोधी संगठन

पूँजीवादी एकाधिकार की स्थापना से विरोधी संगठनों का एकदम अन्त नहीं हो जाता। इनसे लड़ने में पूँजीपतियों को खर्च भी काफ़ी करना पड़ता है। वे लड़ने के जो विभिन्न तरीक़े इस्तेमाल करते हैं वे ये हैं—

(१) विरोधियों को बरबाद करने के लिये वे घाटा दर कर अपना माल बेचते हैं।

(२) षड्यन्त्र या इकरारनामा के ज़रिये प्रतिस्पर्धियों के पास कच्चा माल पहुँचने से रोकते हैं।

(३) ट्रेड युनियन या व्यवसाय संघ से समझौता करके प्रतिस्पर्धियों को श्रम शक्ति का इस्तेमाल करने से रोकना।

(४) प्रतिस्पर्धियों को रेलकर्ज आदि की सहूलियतों से वंचित करना, यहाँ तक कि उनके मालगुदाम आदि को भी विस्फोट से उड़ा देना।

नतीजा यह होता है कि या तो ये प्रतिस्पर्धी बरबाद हो जाते हैं या इन प्रतिस्पर्धियों का अलग एकाधिकारी गुट बन जाता है जो सगठित रूप से अपना विरोध चलाते रहते हैं।

ये पूँजीवादी एकाधिकारी गुट केवल उन्हीं चीज़ों का उत्पादन असगठित उद्योगों के लिये छोड़ देते हैं जिनकी माँग के परिमाण की स्थिरता नहीं है। इस प्रकार मन्दी के समय ये असगठित उद्योग इस एकाधिकारी गुट की रक्षा का काम करते हैं।

बैंक पूँजी और औद्योगिक पूँजी का सम्मिश्रण—फाइनेन्स कैपिटल की उत्पत्ति

केन्द्रीकरण और एकत्रीकरण की एक सीमा के बाद एकाधिकार एक नया रूप धारण करने लग जाता है, जब बैंक अपनी पूँजी औद्योगिकों के हाथ उनके कारोबार बढ़ाने के लिये देता है। बैंकों की सहायता से उत्पादन वृद्धि की नई सम्भावनायें पैदा हो जाती हैं और प्रतियोगियों को कुचलने के लिये भी बैंक एक नया अस्त्र बन जाता है। कम्पनियों के शेयर और डिबेंचर अब बैंकों के ज़रिये बिकने लगता है। बैंक भी अपनी स्थिति के कारण उद्योगों पर अधिकार जमा लेता है और उत्पादन क्रिया को अपनी इच्छा के अनुसार सञ्चालित करता है। बैंक स्वयं ही औद्योगिक कारोबार का एक हिस्सादार बन

जाता है। जॉयेन्ट स्टाक कम्पनियों के शेयरों की खरीद बिक्री भी बंकों के मारफत होने लगती है और इस प्रकार बंक विशिष्ट उद्योगों में पूँजी का परिमाण घटा बढ़ा सकता है और उद्योग धन्धों का पूरी तरह नियन्त्रण कर सकता है और औद्योगिक कारोबार का साझीदार बन जाता है। बंक की पूँजी और औद्योगिक पूँजी इस तरह मिल जुल जाती है कि बंक का मालिक उद्योग का मालिक और उद्योग का मालिक बंक का मालिक बन जाता है। इस तरह की मिली जुली पूँजी को फ़ाइनैंस पूँजी कहते हैं।

जिस प्रकार उद्योग धन्धों की आपसी प्रतियोगिता में बड़े बड़े उद्योग ही रह जाते हैं और वह भी एकाधिकार के रूप में उसी प्रकार बंकों की प्रतियोगिता में भी बड़े बड़े बंक रह जाते हैं और उनका एक गुट बन जाता है। बंक और उद्योगों के गुटों की सम्मिलित पूँजी अब सारे देश के और कभी कभी कई देशों के उत्पादन के साधनों और कच्चे माल को नियन्त्रित करने लग जाता है। एकाधिकार पूँजीवाद की इस परिणति को साम्राज्यवाद कहते हैं।

फाइनैंस पूँजी और पूँजीवादी राष्ट्र का एकीकरण

पूँजीवाद के विकास के साथ राष्ट्र और कुल पूँजीपतियों का स्वार्थ एक होता जाता है। फ़ाइनैंस पूँजी की उत्पत्ति के साथ राष्ट्र पूँजीपतियों के केवल उस हिस्से का प्रतिनिधित्व करता है जो फाइनैंस पूँजीपतियों का गुट होता है।

आधुनिक सरकार चलाने के लिये विशाल धनराशि की आवश्यकता होती है और अक्सर उसको सूद पर रुपया इकट्ठा करना पड़ता है। इस काम के लिये बंक सहायक होता है और इस प्रकार राष्ट्र फाइनैंस पूँजीपतियों के अधीन हो जाता है।

जब राष्ट्र अपनी फैक्टरियाँ और रेल आदि चलाता है तो

बहैसियत एक पूँजीपति के वह फाइनैंस पूँजीपतियों की प्रतियोगिता से बच नहीं सकता और फलस्वरूप या तो उसको फाइनैंस पूँजीपतियों के गुट के साथ मिल जाना पड़ता है नहीं तो फाइनैंस पूँजीपति उसके साथ वैसे ही पेश आते हैं जैसे और प्रतियोगियों के साथ। वे देश के अखबारों को भी अपने अधीन करके उनसे अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं।

इस प्रकार एकाधिकार पूँजी, एक और राष्ट्र का एक जबदस्त सम्मिश्रण बन जाता है।

एकाधिकार उत्पादन और विनिमय का नियन्त्रक

हर मुल्क का नियन्त्रण एक एकाधिकारी पूँजीवादी गुट के द्वारा होने का यह अर्थ लगाया जा सकता है कि हर देश एक आर्थिक एकक बन जाता है और कम से कम उस देश की सीमा के अन्दर उत्पादन के सिलसिले में कोई गड़बड़ी रह नहीं जाती लेकिन ऐसा समझना भूल होगा। पूँजीवादी एकाधिकार में अर्थ के नियम का व्यतिक्रम नहीं होता। न तो निजी सम्पत्ति का ही विनाश होता है। बहुतेरे छोटे छोटे उद्योग अब भी वर्तमान रहते हैं। यद्यपि काफी मात्रा में प्रतियोगिता का अन्त हो जाता है लेकिन उद्योग के बड़े बड़े सदागों के स्वार्थों का संघात होता रहता है। कच्चा माल के एकाधिकारी पूँजीपतियों से उद्योगी गुट का विरोध बना रहता है क्योंकि ये कच्चा माल सस्ता दर में लेना चाहते हैं। गुरु उद्योग में, जैसे उन उद्योगों में जहाँ लोहा आदि का माल पैदा किया जाता है और हल्के उद्योगों में अर्थात् उन उद्योगों में जिनमें उपभोग के साधन पैदा किये जाते हैं, विरोध होता रहता है। इन कारणों के अलावा मुनाफा का पीछा करने के कारण उत्पादन की विभिन्न शाखाओं का समान विकास नहीं होता। इन सब कारणों से उत्पादन के क्षेत्रों में अराजकता वतमान रहती है और शासकवर्ग में विरोध और संघर्ष होता रहता है

एकाधिकारी उत्पादन में अर्घ्य के नियम में सामान्य परिवर्तन होता है।

(१) पूँजीवादी एकाधिकार में भी वस्तु का मूल्य मनमाना नहीं लगाया जा सकता है। इसका कम से कम मूल्य होगा उत्पादन का लागत दाम और ज्यादा से ज्यादा जिस मूल्य पर आम लोग खरीद सकें। इससे अधिक दाम होने पर वस्तु की माँग घट जायगी और सम्भव है पूँजीपति का मुनाफा भी घट जाय।

(२) लेकिन प्रतियोगिता कायम रहने पर जो मूल्य होता है उससे एकाधिकार में अधिक मूल्य होता है क्योंकि एकाधिकार एक उद्योग से दूसरे उद्योग में पूँजी के प्रवाह को रोकता है।

(३) एकाधिकार में पूँजीपति उस मूल्य पर चीज़ बेचता है जिससे उसकी सबसे पिछड़ी हुई फैक्टरी में भी बनी चीज़ के ऊपर उसको औसत मुनाफा मिल सके। इस कारण अधिक उन्नत फैक्टरियों को औसत से अधिक मुनाफा मिलता है जिसको 'कार्टेल' का आन्तरिक लगान कहते हैं।

(४) एकाधिकारी के अतिरिक्त मुनाफा का उद्गम है (क) असगठित कारोबारों, जो एकाधिकारी के उत्पादन के दायरे में पड़ जाते हैं, के अतिरिक्त अर्घ्य का एक अंश (ख) वास्तव मजदूरी में कमी, क्योंकि मजदूरों को अधिक दाम पर अपनी जरूरत की चीजें खरीदना पड़ता है।

(५) सारे समाज की कुल वस्तुओं का मूल्य बराबर होता है उनके लागत मूल्य और कुल मुनाफे के जोड़ के अर्थात् उनके अर्घ्य के। हाँ, इस मुनाफा का बँटवारा असमान होता है और पूँजीवादी एकाधिकार की अवस्था में मजदूरों का शोषण कहीं अधिक होता है।

(६) ट्रस्टों के अतिरिक्त मुनाफा के कारण उनके मुकाबले के लिये स्वतन्त्र उत्पादनकारी अलग ट्रस्ट कायम करते हैं जिससे

अतिरिक्त मुनाफा घट जाता है और मुनाफा का दर समान होने लगता है। लेकिन वर्तमान असम पूँजीवादी विकास में मुनाफा का बिलकुल बराबर होना असम्भव है।

विदेशों के बाज़ारों पर कब्ज़ा—रखा कर

हमने देख लिया कि मूल्य को तरह क़ायम रखने के लिये उत्पादन घटाना पड़ता है। लेकिन एक हद तक ही ऐसा करना लाभदायक होता है और पूँजीवादी विकास का बहाव इस ओर नहीं हो सकता। ऐसा घटित होना पूँजीवादी उत्पादन प्रक्रिया के नियमों के विरुद्ध होगा क्योंकि मुनाफा का खोज और संचय वृत्ति ही इस प्रक्रिया के मुख्य अंग हैं। उत्पादन के सकोच से वस्तु के लागत दाम में वृद्धि होती है और इस प्रकार मुनाफा में कमी हो जाती है।

लेकिन एक सीमा तक कुछ उपाय है। देश की सीमा में वस्तुओं के उत्पादन का सकोच करते हुए भी उनकी बिक्री विदेश के बाज़ारों में [illegible] सकती है। इस तरह उत्पादन के सकोच की आवश्यकता नहीं रह जाती और अधिक उत्पादन के साथ अधिक मुनाफ़ा की सम्भावना पैदा हो जाती है। विदेशों का बाज़ार एक कुएँ की तरह है जिससे आवश्यकता पड़ने पर पूँजीपति अपनी तृषा मिटा सकता है। विदेशों के बाज़ारों की जरूरत को पूरा करते हुए पूँजीपति अपने देश में महँगे दामों चीज़ बेचता है। विदेशों में वह उन्हीं चीज़ों को सस्ते दामों पर यहाँ तक कि नुकसान पर भी बेचता है और इस कमी को देशवासियों से वह पूरा करता है। विदेशों में सस्ते दाम पर चीज़ें बेचकर वह उस देश के पूँजीपतियों का मुक़ाबला करता है और इस प्रकार से जब वह उनके कारोबार को नष्ट कर देता है फिर वह साधारण मूल्य पर चीज़ों को बेचने लगता है, यहाँ तक कि फिर वह अपने मुल्क में प्रचलित दाम से अधिक मूल्य

के पास पहले उपाय के प्रयोग का कोई ज़रिया नहीं था। इसलिए उसको दूसरे उपाय का अवलम्बन करना पड़ा। लेकिन यह करना इतना आसान नहीं था। उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में, मज़दूरों की रिज़र्व सेना के कारण मज़दूरी मनमानी घटायी जा सकती थी लेकिन अब मज़दूर संघ इतने शक्तिशाली हो गए थे कि वे बेकार मज़दूरों के बेकार रहते हुए भी मज़दूरी को घटने नहीं देते थे। बेकार बेकार ही रहते हैं लेकिन जो मज़दूर काम पर लगे रहते हैं उनकी मज़दूरी घटने नहीं पाती है। इसलिए पूँजीपतियों को इन मज़दूर संघों को दबाने की आवश्यकता पड़ी। हिटलर ने पूँजीपतियों के इस उद्देश्य में हाथ बटाया।

स्टिन्स, क्रिप्स, थिसेन आदि बड़े बड़े उद्योगियों के सहारे ही हिटलर फासिस्ट राष्ट्र क़ायम करने में समर्थ हुआ था और शक्ति प्राप्त करने के बाद उसने पूँजीपतियों को मित्रता खूब निभायी। जनवरी १९३४ के एक फ़र्मान से मिलमालिक 'नेता' बनाया गया और फ़ैक्टरी के मज़दूरों को बाध्य होकर उसका अनुगामी बनना पड़ा। अब स्वयं नेता को ही निम्नलिखित विषयों पर फ़र्मान निकालने का अधिकार मिला —

(१) मज़दूरी के दिन के आरम्भ अन्त के समय का निर्णय।

(२) मज़दूरी चुकाने का तरीका और समय का निर्णय।

(३) ठेका और खुचरे काम के आधार का निर्णय।

(४) जुर्माने की क़िस्म, रक़म और अदायगी के तरीक़े का निर्णय। तथा

(५) उन आधारों का निर्णय जिनके बिना पर बिना नोटिस दिये हुए मज़दूरों को निकाला जा सकता है।

दूसरे शब्दों में श्रम की शर्तें, काम के घण्टे, खुचरे काम का दर सभी मिल मालिक की इच्छा पर निर्भर है। यह सच है

बाज़ारों को अर्थात् इन देशों को विजित देश या उपनिवेश बना कर रखना पड़ता है।

पूँजी का निर्यात यह स्वतःसिद्ध है कि यदि आयात-कर के कारण बने हुए माल का आना बन्द हो जाय तो दूसरे देश वहाँ पूँजी का निर्यात करेंगे। सोना में किसी देश विशेष का छाप नहीं लगा रहता और बने हुए माल के बनिस्बत वह ज़्यादह आसानी से देशों की सीमायें पार कर सकता है।

पूँजी के निर्यात का एक रूप होता है यह कि एक देश का पूँजीपति या सरकार दूसरे देश को ऋण देते हैं। इसके लिये उनको ऊँचे दर पर सूद मिलता है और व्यापारिक या दूसरे प्रकार की सुविधाओं के रूप में विशेषाधिकार मिलते हैं और रेल आदि बनाने की भी इजाज़त मिलती है।

प्रत्यक्ष रूप में भी पूँजी का निर्यात होता है। एक देश का पूँजीपति दूसरे देश में बैंक खोलता है, उद्योग धन्धे खोलता है तथा वहाँ के कारोबारों का हिस्सा (शेयर) खरीदता है। कर्ज़े के लिये जैसे उसको सूद मिलता है वैसे ही उद्योग धन्धों के कारण मुनाफ़ा मिलता है।

उपनिवेशों की लड़ाई और दुनिया का बटवारा जिन पिछड़े हुए देशों में यान्त्रिक उन्नति नहीं हो पाई है वहाँ आगे बढ़े हुए मुल्कों के बनिस्बत मुनाफ़े का दर अधिक होता है और इसलिये वहाँ पूँजी आवश्यक होती है। वहाँ पूँजी का आन्तरिक संगठन कम होता है और श्रम शक्ति सस्ती रहती है। कच्चा माल भी वहाँ प्रचुर मिलता है और जहाँ कच्चा माल मिलता है उसी स्थान पर तैयार माल बनाना ज़्यादह सस्ता पड़ता है।

ज़मीन का लगान तथा दूसरे कारणों से आगे बढ़े हुए

पर चीज़ें बेचने लग जाता है। इस प्रकार से एक सीमा तक पैदावार बढ़ाई जा सकती है, इसके बाद नये बाज़ारों की खोज होने लगती है। इस तरह बाज़ारों पर कब्ज़ा पाने के लिये एक होड़ पड़ जाती है और झगड़ा बढ़ता ही जाता है।

अब विदेशों के बाज़ारों पर अधिकार पाने के लिये भिन्न मुल्कों के एकाधिकारी सगठनों में सघर्ष और विरोध होने लगता है। यह विरोध विश्वव्यापी हो जाता है और भिन्न भिन्न देशों के विराट पूँजीपति दैत्य जमकर लड़ने लग जाते हैं।

देश विशेष का एकाधिकारी सगठन अपनी रक्षा के लिये राष्ट्र के साथ सम्पूर्ण रूप से सम्मिलित हो जाता है और अपने देश के बाज़ार को विदेशियों की प्रतियोगिता के क्षेत्र से अलग रखना चाहता है। इसके लिये राष्ट्र अपने मालिकों के आदेश पर बाहर से आने वाली वस्तुओं पर आयात-कर लगाता है। इसके कारण बाहर से आई हुई चीज़ों का दाम देश में उत्पन्न वस्तुओं के मुकाबले बढ़ जाता है।

फाइनेंस पूँजी की उत्पत्ति के पहले पिछड़े हुए मुल्क रक्षा कर इसलिये लगाते थे कि चीज़ों की बिक्री से उत्पादन का लागत दाम और औसत मुनाफा मिल सके तथा देश की उत्पादक शक्तियों के विकास के लिये अनुकूल अवस्था की उत्पत्ति हो। फाइनेंस पूँजी की उत्पत्ति के बाद यह कर इसलिये लगाया जाता है कि एकाधिकार का अतिरिक्त मुनाफा क़ायम रहे। इस कर के प्रयोग का क्षेत्र जितना विस्तृत होता है उस देश के एकाधिकारी पूँजीपतियों का बोलबाला भी उतना अधिक होता है।

विदेशी बाज़ारों पर अधिकार जमाते हुए देश विशेष का पूँजीवादी गुट उनको इन करों के प्रयोगक्षेत्र की सीमा के अन्दर लाना चाहता है और उनको दूसरे पूँजीवादी गुटों के सघर्ष से अलग रखना चाहता है। इसका परिणाम यह होता है कि इन

बाजारों की अर्थात् इन देशों को विजित देश या उपनिवेश बना कर रखना पड़ता है।

पूँजी का निर्यात यह स्वतः सिद्ध है कि यदि आयात कर के कारण बने हुए माल का आना बन्द हो जाय तो दूसरे देश वहाँ पूँजी का निर्यात करेंगे। सोना में किसी देश विशेष का छाप नहीं लगा रहता और बने हुए माल के बनिस्बत यह ज्यादह आसानी से देशों की सीमायें पार कर सकता है।

पूँजी के निर्यात का एक रूप होता है यह कि एक देश का पूँजीपति या सरकार दूसरे देश को क़र्ज़ देते हैं। इसके लिये उनको ऊँचे दर पर सूद मिलता है और व्यापारिक या दूसरे प्रकार की सन्धियों के रूप में विशेषाधिकार मिलते हैं और रेल आदि बनाने की भी इजाज़त मिलती है।

प्रत्यक्ष रूप से भी पूँजी का निर्यात होता है। एक देश का पूँजीपति दूसरे देश में बंक खोलता है, उद्योग धन्धे खोलता है तथा वहाँ के कारोबारों का हिस्सा (शेयर) खरीदता है। कर्ज़ के लिये जैसे उसको सूद मिलता है वैसे ही उद्योग धन्धों के कारण मुनाफा मिलता है।

उपनिवेशों की लड़ाई और दुनिया का बटवारा जिन पिछड़े हुए देशों में यान्त्रिक उन्नति नहीं हो पाई है वहाँ आगे बढ़े हुए मुल्कों के बनिस्बत मुनाफा का दर अधिक होता है और इसलिये वहाँ पूँजी आकर्षित होती है। वहाँ पूँजी का आन्तरिक संगठन कम होता है और श्रम शक्ति सस्ती होती है। कच्चा माल भी वहाँ प्रचुर मिलता है और जहाँ कच्चा माल मिलता है उसी स्थान पर तैयार माल बनाना ज्यादह सस्ता पड़ता है।

ज़मीन का लगान तथा दूसरे कारणों से आगे बढ़े हुए

मुल्कों में, उद्योग के मुकाबले कृषि का विकास धीमे होता है। लेकिन वहाँ के उद्योगों के लिये कच्चा माल तो चाहिए ही। यह पिछड़े हुए मुल्कों में मिलता है जो प्रायः उष्ण प्रदेश भी हैं। और कुछ विशिष्ट प्रकार के कच्चा माल जैसे रुई आदि उष्ण प्रदेशों में ही मिलते हैं। अक्सर कोयला और सोना भी यहाँ मिलते हैं। इन पिछड़े हुए मुल्कों में प्राकृतिक चीजें क्या मिलती हैं इसका पूरा पता नहीं लगाया गया है। इन पिछड़े हुए मुल्कों को उपनिवेश बनाने का और वहाँ के निवासियों के रक्त शोषण का इतिहास पूँजीवादी विकास के इतिहास के सबसे काले पन्ने हैं।

उपनिवेशों में दासप्रथा छिप रूप में वर्तमान रहती है। उस देश के मजदूरों की मजदूरी इतनी कम होती है कि उनको भूखा मरना पड़ता है। इधर मजदूरों की जीवनधारण की सामग्रियाँ बहुत महँगी हो जाती हैं क्योंकि पूँजीपति अच्छी जमीनें अपनी जरूरत की चीजों को पैदा करने के लिये ले लेता है। वहाँ की जनता को उसी सेना को खिलाने के लिये रुपया देना पड़ता है जो उनको गुलाम बनाके रखती है।

अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवादी गुट और पृथ्वी के पुनर्विभाजन की लड़ाई

बाजार और कच्चा माल के लिये पूँजीवादी गुटों की लड़ाई का यह परिणाम है कि शक्तिशाली पूँजीवादी मुल्कों ने सारी दुनिया को बाँट लिया है। अकेले ग्रेटब्रिटेन के पास १४० करोड़ वर्ग कीलोमीटर है यानी सारी दुनिया की सतह का ¼ हिस्सा। खुद ब्रिटेन का रकबा है ३ लाख वर्ग कीलोमीटर और उसकी आबादी ४ करोड़ ७० लाख। फ्रांस का रकबा है ५० लाख वर्ग कीलोमीटर तथा उसकी आबादी ४ करोड़ और इसकी अधिकृत जमीन का रकबा है १ करोड़ दस लाख वर्ग कीलोमीटर और लोक संख्या ५½ करोड़।

दुनिया के बँटवारे में जो हिस्सा औद्योगिक पूँजीवादी गुटों को मिलता है उससे वे सन्तुष्ट नहीं रहते। वर्धिष्णु सचय, और मुनाफ़ा की तृषा पूँजीपतियों को उत्पादन के तथा बढ़ते हुए माल के बाज़ार के, और वृद्धिमान पूँजी के प्रभाव के दायरे के विस्तार के लिये बाध्य करता है। इस चेष्टा में एक देश दूसरे देश और उसके कब्ज़े में उपनिवेशों पर हमला करता है और छोटे-छोटे अर्धस्वतन्त्र राष्ट्रों को अपने प्रभाव के अधीन रखना चाहता है।

अत्यधिक रक्षा कर जिससे जनता की बरबादी होती है, विदेशों का सस्ते माल से छा देना और उनमें बहुत कम सूद पर तथा नुकसान सहकर क़र्ज़ देना, मजदूरों का शोषण और उपनिवेशों का रक्त-शोषण, यही तरीक़े हैं जो पूँजीवादी अख्तियार करता है।

विरोधी जो कमज़ोर होता है वह बरबाद हो जाता है या शक्ति-शाली गुट के प्रभाव में आ जाता है और जब विरोधी शक्तिशाली होता है तो उनमें एक प्रकार का समझौता हो जाता है। इस प्रकार एक अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवादी गुट की सृष्टि होती है जो बाज़ार और प्रभाव के क्षेत्रों का बँटवारा कर लेते हैं। लेकिन यह समझौता टिकाऊ नहीं होता और विरोध उभड़ ही पड़ता है।

किसी गुट को बँटवारे में कितना हिस्सा मिलेगा, यह उसकी शक्ति के ऊपर निर्भर है। किसी भी साझीदार की ताक़त के घटने या बढ़ने से समझौता टूटने लगता है और नये सिरे से बँटवारे की ज़रूरत पड़ जाती है। हालत कुछ भी हो, हर पूँजीपति अपना ही स्वार्थ देखता रहता है। समझौता से संघर्ष की तीव्रता घट जाती है, उसका अन्त नहीं होता। रक्षा-कर, षड्यन्त्र, घूस ये जारी रहते हैं। सारी दुनिया पहले ही बँट जाने के कारण अब विस्तार उसी हालत में सम्भव है जब एक का हिस्सा दूसरा छीन ले। और इसके माने हैं लड़ाई।

के पास पहले उपाय के प्रयोग का कोई ज़रिया नहीं था। इसलिए उसको दूसरे उपाय का अवलम्बन करना पड़ा। लेकिन यह करना इतना आसान नहीं था। उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में, मज़दूरों की रिज़र्व सेना के कारण मज़दूरी मनमानी घटायी जा सकती थी लेकिन अब मज़दूर संघ इतने शक्तिशाली हो गए थे कि वे बेकार मज़दूरों के बेकार रहते हुए भी मज़दूरी को घटने नहीं देते थे। बेकार बेकार ही रहते हैं लेकिन जो मज़दूर काम पर लगे रहते हैं उनकी मज़दूरी घटने नहीं पाती है। इसलिए पूँजीपतियों को इन मज़दूर संघों को दबाने की आवश्यकता पड़ी। हिटलर ने पूँजीपतियों के इस उद्देश्य में हाथ बटाया।

स्टिन्स, किडक, थिसेन आदि बड़े बड़े उद्योगियों के सहारे ही हिटलर फासिस्ट गण क़ायम करने में समर्थ हुआ था और शक्ति प्राप्त करने के बाद उसने पूँजीपतियों की मित्रता ख़ूब निभायी। जनवरी १६३४ के एक फ़र्मान से मिलमालिक 'नेता' बनाया गया और फ़ैक्टरी के मज़दूरों का बाध्य होकर उसका अनुयायी बनना पड़ा। अब स्वयं नेता को ही निम्नलिखित विषयों पर फ़र्मान निकालने का अधिकार मिला—

(१) मज़दूरी के दिन के आरम्भ अन्त के समय का निर्णय।

(२) मज़दूरी चुकाने का तरीक़ा और समय का निर्णय।

(३) ठेका और खुचरे काम के आधार का निर्णय।

(४) जुर्माने की क़िस्म, रक़म और अदायगी के तरीक़े का निर्णय। तथा

(५) उन आधारों का निर्णय जिनके बिना पर बिना नोटिस दिये हुए मज़दूरों को निकाला जा सकता है।

दूसरे शब्दों में श्रम की शर्तें, काम के घण्टे, खुचरे काम का दर सभी मिल मालिक की इच्छा पर निर्भर है। यह सच है

कि तथाकथित "मज़दूरों के ट्रस्टी" के पास मज़दूर अपील कर सकता है लेकिन यह नाम मात्र का अधिकार है क्योंकि अधिकांश ट्रस्टी या तो पूँजीपति या उनके प्रतिनिधि थे (जैसे ब्रैंडेनबर्ग का ट्रस्टी जो पहले राइनलैंड में लोहा गलाने के कारखानों का मैनेजर था)।

नात्सी शासन से जर्मन एकाधिकारी पूँजी को क्या लाभ हुआ यह १९३३ में हिटलर के हाथ में शासन की बागडोर आ जाने के बाद के मज़दूरी और मुनाफ़े के आँकड़े बतलाते हैं। संकटकाल में मजदूरियाँ वैसे ही घट गई थीं, १९३३ में यह और भी घटा दी गई और तब से अब तक मज़दूरियाँ बढ़ी नहीं यद्यपि कुछ दिनों में बेकारों का संख्या बहुत घट गई। और चूँकि जीवनधारण की सामग्रियों का मूल्य १९३८ में क़रीब पाँचवाँ हिस्सा बढ़ चुका था, इसलिए वास्तविक मजदूरी और भी घट गई। इधर काम के घण्टे और बढ़ गये। विशेषकर हथियारों के कारखानों में जहाँ मज़दूर साधारणतया हफ़्ते में ६० घण्टे काम करते थे। लेकिन शेयर होल्डरों के डिवीडेन्ड दुगुने हो गये। सरकारी आँकड़ों की बुनियाद पर जे. कुज़ीन्स्की के गणनानुसार १९३३-३८ के बीच सारे मज़दूरों और तनख्वाह पानेवाले नौकरों की कुल आमदनी केवल २४ फ़ीसदी बढ़ी थी। जबकि बड़ी तनख्वाह पानेवालों तथा मिल्मालिकों की कुल आमदनी १४८ फ़ीसदी बढ़ी।

बहुत लोगों का विश्वास है कि नात्सी राष्ट्र ने मज़दूर और मिलमालिक दोनों को नियन्त्रण में रक्खा। लेकिन यह भूल है। राष्ट्र नियन्त्रित उद्योगों को जिस प्रकार व्यक्तिगत पूँजीपतियों के हाथों सौंपा गया वही जर्मन फ़िनान्स पूँजी और नात्सी राष्ट्र के सम्बन्ध के सच्चे स्वरूप को प्रगट करता है।

प्रजातन्त्र शासन काल में कोयले की खानों तथा जहाज़

बनाने के कारखानों के अधिकांश शेयर राष्ट्र के हाथ में थे। संकट काल में दिवालियेपन से बचाने के लिये भी बहुत से कारखाने राष्ट्र ने अपने हाथ में ले लिए थे। इस प्रकार तीन बड़े-बड़े बैंक भी राष्ट्र के हाथ में थे लेकिन १६७६ तक ये सबके सब पूँजीपतियों की व्यक्तिगत सम्पत्ति बन गए। इसी तरह १६३२ में सरकार ने, स्टील ट्रस्ट जो दिवालिया हो रही थी, के अधिकांश शेयरों को तिगुने दाम पर खरीद लिया था। लेकिन १६३६ में स्टील ट्रस्ट को उसकी पुनः लौटा दी गई। जहाजों के कारखानों की भी यही कहानी है। इसी तरह उत्तरी साइलीशिया के लोहा गलाने के कारखानों के राष्ट्र के शेयर क्रुप्स के हवाले कर दिये गये। एकमात्र गेरिंग के विराट् कारखाने के अधिकांश शेयर सरकार की सम्पत्ति थी लेकिन यह इसलिए कि जिस लाहे का यहाँ इस्तेमाल किया जाता था वह बहुत खराब क़िस्म का था और हर प्रदेश के स्टील सम्राट् यह समझते थे कि इससे उनको अधिक मुनाफा नहीं मिल सकता।'

मजदूरी का मसला हल करने के बाद नात्सी सरकार का ध्यान गया उपनिवेशों की ओर। पँजीवादी व्यवस्था को समूल विनाश से रोकने का यही दूसरा उपाय था। न केवल यूरोप के बाहर के देशों के बल्कि सारे यूरोप को ही उन्होंने एक बहुत बड़ा उपनिवेश बनाना चाहा। एक विश्वव्यापी समर पर ही इसकी सफलता निर्भर थी और इसका परिणाम हुआ सामरिक अर्थ नीति जिसका मूलमन्त्र गेरिंग के शब्दों में है—'मक्खन नहीं, अधिक बन्दूक'। युद्ध के समय बाहर से चीजें नहीं मिल सकतीं। इसलिए इस नीति का यह भी अर्थ हुआ कि ऐसी चीजें देश में ही पैदा की जायँ चाहे इसमें आर्थिक नुकसान भले ही हो। इससे मजदूरों और साधारण जनता को क्या हानि पहुँची, वर्तमान जर्मनी ही इसका साक्षी है।